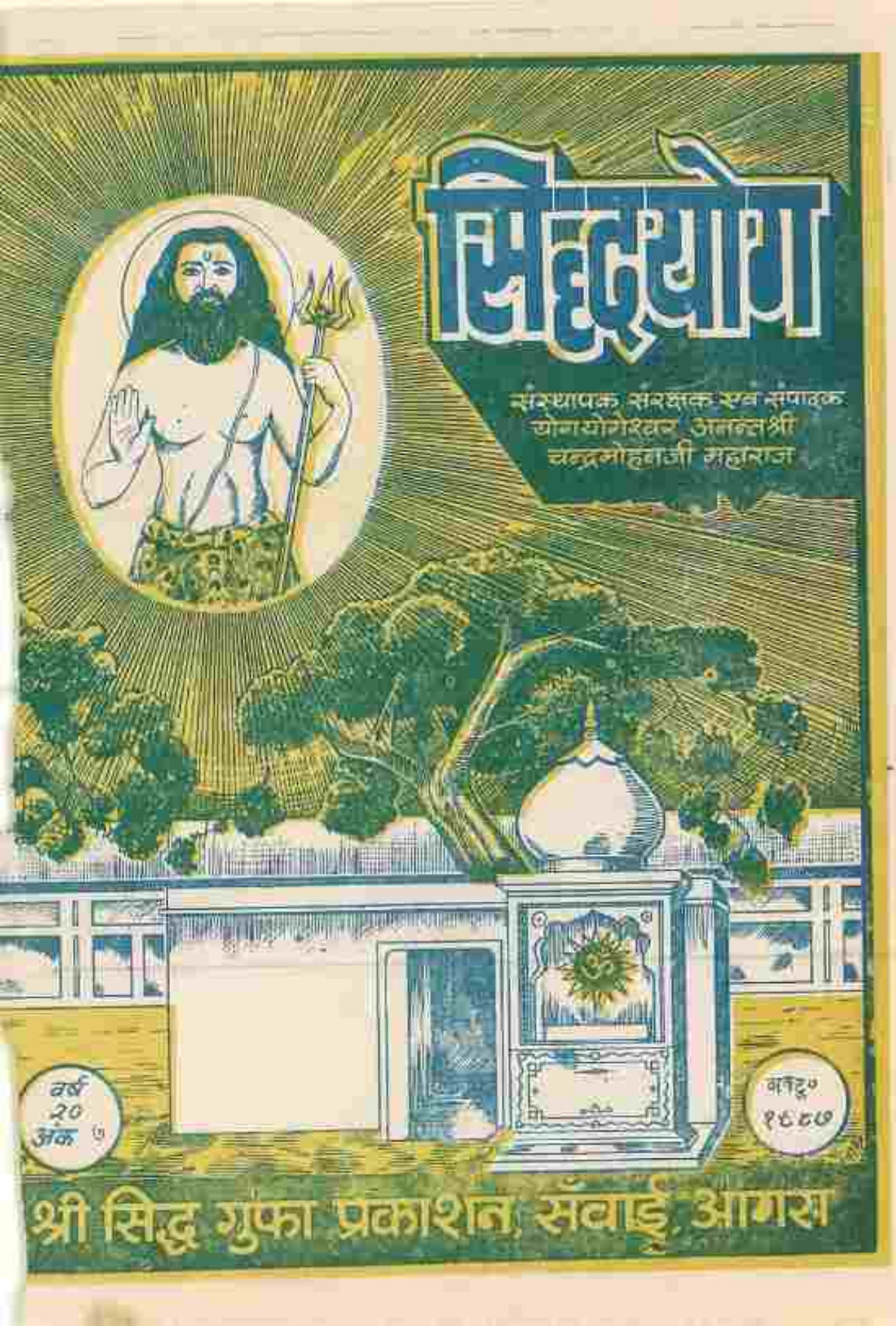
सिद्धयोग
संस्थापक संरक्षक एवं संपादक
योगयोगेश्वर अनन्तश्री
चन्द्रमोहनजी महाराज
वर्ष २० अंक १
अक्टू० १९८७
श्री सिद्ध गुफा प्रकाशन, सवाई माधोपुर

इस अंक में—

प्रकाशक
श्री सिद्धगुफा
सवाई

संयुक्त सम्पादक
'दिव्य'

अक्टूबर
१९८७

❀ एवंविधा वृत्तयः (प्रार्थना) १
❀ ईश्वर की व्यापक सत्ता एवं उसका उपभोग (विशेष लेख) २
योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज
❀ दीक्षा तत्व ८
आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा
❀ यौगिक चमत्कारों का नियम १३
डा० श्री विजयसिंह
परमानन्द की अभिलाषा १८
श्री जे० कृष्णमूर्ति
❀ योगाभ्यासी के लिए धारणा २२
स्वामी श्री अभयानन्द
❀ श्री हनुमान का योगनिष्ठ व्यक्तित्व २५
श्री डी० आर० अवस्थी
❀ सुख और शान्ति २९
डा० श्री मुन्शीराम शर्मा
❀ पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम् ३२
❀ चातुर्मास में विशेष तप ३४
प्रेषक—एक योग साधक
❀ भगवत् स्वरूप वर्णन—ब्रह्मभाव की प्राप्ति ३६
वेद्य श्री रामधन शर्मा शास्त्री
❀ व्यक्तित्व—विकास और योग ३९
श्री आर० आर० दिवाकर
❀ आदर्श सन्त राजनारायण ४१
श्रद्धेय गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

वार्षिक मूल्य ३० रुपया। इस अङ्क का ४ रुपया

श्री गुरुदेवजी के आगामी योग-प्रचार कार्यक्रम

बनारस में श्री सद्गुरुदेवजी महाराज के २ अक्टूबर ८७ को आयोजित अन्न-दिवस समारोह के पश्चात् अब आगामी योग-प्रचार कार्यक्रम इस प्रकार रहेंगे।

(प्रचार-संयोजक)

३-१०-८७	को	बनारस से डीलक्स द्वारा अम्बाला के लिए प्रस्थान
४-१०-८७ से ८-१०-८७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम पञ्चकुला पता—द्वारा जसबीरसिंह म० नं० २२२१ सैक्टर १५ एल आई जी हरियाणा हाउसिंग बोर्ड, पञ्चकुला अम्बाला।
९-१०-८७	को	चण्डीगढ़ के लिए प्रस्थान
९-१०-८७ से १८-१०-८७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम चण्डीगढ़ पता—द्वारा रामचन्द्र कालिया म० नं० ३२०१ सैक्टर १५ डी चण्डीगढ़
१८-१०-८७ से २५-१०-८७ तक		आश्रम निवास
२५-१०-८७	को	झाँसी के लिए प्रस्थान
२५-१०-८७ से ३१-१०-८७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम झाँसी पता—द्वारा श्री लक्ष्मी नारायण गोता खण्डेराव गेट झाँसी
१-११-८७	को	रायसेन के लिए प्रस्थान
१-११-८७ से ७-११-८७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम रायसेन पता—द्वारा चि० कैलाश चतुर्वेदी एडवोकेट सिपट्टा, रायसेन महाराष्ट्र
८-११-८७	को	इटारसी के लिए प्रस्थान
८-११-८७ से १६-११-८७ तक		योग-प्रचार कार्यक्रम इटारसी पता—द्वारा धुवेन्द्रसिंह सिसोदिया इमल चाल, गांधी नगर इटारसी जि० होशंगाबाद (म० प्र०)

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुरु योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एलादपुर) आगरा ।

वर्ष २०
अङ्क ७

ध्यायं ध्यायं यदिह परमं ब्रह्म शुद्ध स्वभावम्,
मर्त्यो मृत्योर्मुंच विवरतो, मुक्ति माप्नोति सद्यः ।
तत्राप्यर्थाद् बहुविधदं योगशास्त्रोपदेशात्,
कल्याणानां भवत् महतां सिद्धये 'सिद्धयोग:' ॥

अक्टूबर
१९८७

❀ एवंविधा वृत्तयः ❀

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न ज्ञायते ।
मुक्ताकारतया तदेव नलिनी पत्रस्थितं राजते ॥
स्वात्यां सागरशुक्तिमध्य पतितं तन्मौक्तिकं जायते ।
प्रायेणाधम मध्यमोत्तमजुषामेवंविधा वृत्तयः ॥

अर्थात्

तपे हुए लोहे पर गिरी पानी की बूंद का नाम भी नहीं मालूम होता, वही जल बिन्दु कमलिनी के पत्ते पर पड़ जाय तो मोती जैसी प्रतीत होती है, यदि वही बूंद स्वाति नक्षत्र में समुद्र की सीपी के मध्य में गिर जाय तो वह सुन्दर मोती बन जाती है। इसी तरह मनुष्य में प्रायः अधम, मध्यम और उत्तम गुण संसर्ग से ही उत्तम होते हैं।

—योगी भर्तृहरि

हमारा विशेष लेख—

योग-योगेश्वर अनन्त
श्री चन्द्रमोहनजी
महाराज

सृष्टि में सब कुछ जो भी हम देख और समझ पा रहे हैं ईश्वर की सत्ता से परिपूर्ण है। इस ईश्वरी सत्ता के कुछ अपने निश्चित् से नियम भी हैं। जिनके द्वारा सृष्टि का सारा कारोबार संचालित होता रहता है; वेद, शास्त्र, उपनिषद् आदि सभी ईश्वरीय सत्ता के सृष्टि संचालन-नियमों की व्याख्या से भरे पड़े हैं। जो इन वेद और शास्त्र विहित नियमों को जानकर अपना जीवन व्यतीत करते हैं वे निश्चित् रूप से जीवन के परम लक्ष्य मोक्ष के भागी बन जाया करते हैं।

इसी सारभूत तत्व को पूज्य श्री गुरुदेवजी ने अपने प्रस्तुत लेखमें अनेक प्रमाणों और उक्तियों के द्वारा पाठकों को सरल विधि से समझाने का प्रयत्न किया है। —सं० स०

'ईश्वर की व्यापक सत्ता'
एवं
उसका उपभोग

उपनिषदों में सबसे पहली उपनिषद् है ईशावास्योपनिषद्। इस उपनिषद् के सबसे पहले मन्त्र में ईश्वर की व्यापक सत्ता को समझाया गया है, साथ ही मनुष्य के कर्त्तव्य का दिग्दर्शन भी कराया गया है। मनुष्य शास्त्र-विधि को समझ कर शास्त्रीय आदेशों के अनुसार यदि चलने का प्रयत्न करता है तो वह कल्याण के आदि स्रोत को प्राप्त करके अपने आपको कृतकृत्य बना लिया करता है।

अखिलात्मा त्रिजगत्-पावन भगवान् श्री कृष्णचन्द्रजी ने अर्जुन को बिल्कुल सीधा और स्पष्ट आदेश दिया है—

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्॥
तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि॥

—गीता १६३/२४

अर्थात् जो मनुष्य शास्त्र विधि को छोड़ करके मनमाने ढङ्ग से चलते हैं वे लोग सुख को प्राप्त नहीं हो सकते और न ही परम गति को पा सकते हैं। इसलिए हे अर्जुन! जहाँ भी कार्य और अकार्य की व्यवस्था हो, वहाँ पर शास्त्र विधि को समझकर ही कर्म करो, ऐसा आदेश अर्जुन को दिया है। ठीक इन्हीं भावों को लेते हुए ईशावास्योपनिषद् के पहले मन्त्र में समझाया गया है कि—

ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्॥

अर्थात् यह सारा संसार परमात्मा की आवास भूमि अर्थात् सारे संसार में परमात्मा व्यापक रहते हैं। इसलिए साधक को चाहिए कि परमात्मा की व्यापक सत्ता को

समझ करके हर कार्य को त्याग-भाव से करे। कर्मफल में आसक्ति रखना ही मनुष्यके बंधन का कारण है। यदि हर व्यक्ति कर्मफल की आसक्ति को हटा करके करने मात्र की बुद्धि से संसार में कर्म रत रहता है तो वह जन्म-मरण के चक्र से बच जाया करता है। अखिलात्मा त्रिजगत् पावन भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने कर्मयोग का उपदेश दिया। श्रीमद्भगवद् गीता के दूसरे अध्याय के अन्तमें स्पष्ट शब्दों में कहा है—

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं
समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत्कामा यं प्रविशन्ति सर्वे
स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
विहाय कामान्यः सर्वान्पु-
मांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः
स शान्तिमधिगच्छति॥

—गीता २/७०-७१

अर्थात् आपूर्यमाण समुद्र में पड़ करके जिस प्रकार से नदी-नाले अपनी सत्ता को समाप्त कर देते हैं, इसी प्रकार से जो व्यक्ति सभी प्रकार की कामनाओं को अपनेमें विलीन कर लेता है, वह शान्ति को पा जाता है। किन्तु कामनाओं के पीछे दौड़ने वाला व्यक्ति शाश्वत शान्ति को नहीं प्राप्त होता। सारी कामनाओं को छोड़ करके एवं सब प्रकार से कामनाओं से रहित हो करके जो व्यक्ति संसार में निर्मम, निरहंकार हो करके विचरता है, वह शान्ति को पा जाया करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने निष्काम कर्मयोग का उपदेश दिया, किन्तु अर्जुन उनके भाव को नहीं समझ सका और श्रीमद्भगवद्गीता के आरम्भ में ही उसने यह प्रश्न कर दिया—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते
मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत्किं कर्मणि घोरे मां
नियोजयसि केशव॥
व्यामिश्रेणेव वाक्येन
बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकंवद निश्चित्य येन
श्रेयोऽहमाप्नुयाम्॥

—गीता ३/१-२

अर्थात् आपने दूसरे अध्याय के अन्त में सभी प्रकार की कामनाओं को छोड़ देने का उपदेश दिया है। किन्तु आप युद्ध रूप घोर कर्ममें मुझे लगाना चाहते हैं। इसलिए आपके मिश्रित विचारोंको सुनकर मेरी बुद्धि भ्रमित है। इसलिए एक प्रकार का निश्चयात्मक सिद्धान्त सुनाओ, जिससे मैं कल्याण को पा जाऊँ।

अर्जुन को यही सिद्धान्त समझाने के लिए पुनः सांख्य और योग के सिद्धांत को लेते हुए निष्काम कर्मयोग के सिद्धांत को इस प्रकार समझाया—

लोकेऽस्मिन्द्विविधा निष्ठा
पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां
कर्मयोगेन योगिनाम्॥

न कर्मणामनारम्भा-
न्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते ।
न च संन्यसनादेव
सिद्धिं समधिगच्छति ॥
न हि कश्चित्क्षणमपि
जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् ।
कार्यते ह्यवशः कर्म
सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः ॥
कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य
आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा
मिथ्याचारः स उच्यते ॥
यस्त्विन्द्रियाणि मनसा
नियम्यारभतेऽर्जुन ।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगम-
सक्तः स विशिष्यते ॥
नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म
ज्यायो ह्यकर्मणः ।
शरीरयात्रापि च ते न
प्रसिद्धयेदकर्मणः ॥

—गीता—३/३-४-५-६-७-८

अर्थात् हे अर्जुन ! हमने इस संसार में दो प्रकार के सिद्धांतों का उपदेश पहले किया है। सांख्य-शास्त्र के सिद्धान्तों को मानने वाले लोगों के लिए ज्ञानयोग का और योगियों के लिए कर्मयोग का उपदेश किया, किन्तु एक बात अवश्य ही ध्यान में रख लेनी चाहिए और वह यह कि कर्मों को आरम्भ न करने से मनुष्य निष्कामता को नहीं प्राप्त कर सकता। यदि कोई व्यक्ति कर्मों को छोड़ करके बैठ जाता है तो वह यथार्थता को नहीं पा सकता। क्योंकि सिद्धांत की बात यह है, कोई भी व्यक्ति जन्म ले करके कर्म किये बिना रह ही नहीं सकता। क्योंकि प्राकृत प्रेरणायें उसको कर्म करने के लिए विवश कर देंगी। कदाचित् कोई व्यक्ति बाह्य व्यवहार में आकर अपने हाथ, पैर, मुख, नासिका आदि कर्मेन्द्रियों को रोककर बैठा रहता है और मन से इन्द्रियार्थों का चिंतन करता रहता है। ऐसे व्यक्ति को मिथ्याचारी और ढोंगी कहा गया है और इसके अतिरिक्त जो व्यक्ति अपनी इन्द्रियों पर पूरा-पूरा मन से नियन्त्रण करके अनासक्त भाव से कर्म करता रहता है, वह बढ़ जाता है। अतः हे अर्जुन ! तू दृढ़ मन से कर्म कर। कर्म से ही अकर्मता को प्राप्त होगा। बिना कर्म के तो तेरे शरीर का निर्वाह भी नहीं हो सकता। इससे आगे भगवान् ने निष्काम योग को भली प्रकार से स्पष्टीकरण के लिए महाराजा जनक आदि का उदाहरण दे करके यह समझाया कि कर्म के द्वारा ही जनकादि ने सिद्धि को प्राप्त किया और दूसरी बात समझाते हुए यह बतलाया कि लोक-व्यवहार को देख करके भी मनुष्य को कर्म करना ही चाहिए। क्योंकि—

यद्यदाचरति श्रेष्ठ-
स्तत्तदेवेतरो जनः ।
स यत्प्रमाणं कुरुते
लोकस्तदनुवर्तते ॥

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं
त्रिषु लोकेषु किंचन ।
नानवाप्तमवाप्तव्यं
वर्त एव च कर्मणि ॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं
जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते
मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न
कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुप-
हन्यामिमाः प्रजाः ॥
सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो
यथा कुर्वन्ति भारत ।
कुर्याद्विद्वांस्तथा सक्त-
श्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ॥
न बुद्धिभेदं जनयेद-
ज्ञानां कर्मसङ्गिनाम् ।
जोषयेत्सर्व कर्माणि
विद्वान्युक्तः समाचरन् ॥
प्रकृतेः क्रियमाणानि
गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढात्मा
कर्ताहमिति मन्यते ॥
तत्त्ववित्तु महाबाहो
गुणकर्मविभागयोः ।
गुणा गुणेषु वर्तन्त
इति मत्वा न सज्जते ॥

—गीता ३/२१-२२-२३-२४-२५-२६-२७-२८

अर्थात् श्रेष्ठ व्यक्ति जो-जो काम करता है, उसी का अनुसरण दूसरे लोग भी किया करते हैं। वह जिन-जिन बातों को प्रमाणित करता है, सभी लोग उसका अनुसरण किया करते हैं। हे अर्जुन ! तुम एक बातको ध्यान देकर समझो। तीनों लोकों में मेरा कुछ भी कर्त्तव्य अवशेष नहीं है और न ही कोई ऐसी वस्तु है, जो हमें प्राप्त न हुई हो। किन्तु फिर भी मैं कर्म करता हूँ, क्योंकि यदि मैं सब प्रकार से दृढ़ संकल्प होकर कर्म न करूँ तो सभी लोग मेरा अनुसरण करेंगे और कर्म रहित होकर मैं इन सभी लोकों के विनाश का कारण बन जाऊँगा। वर्ण संकर का कर्त्ता हो करके इस प्रजा के विनाश का कारण बन जाऊँगा। इसलिए जिस प्रकार से मूर्ख होकर कर्म-फलों में आसक्ति रखते हुए कर्म करते हैं ठीक उसी प्रकार से कर्म-फलों की आसक्ति को छोड़ करके विद्वान् लोगों को भी कर्म करने चाहिए। किन्तु इसके साथ-साथ मूर्ख लोग कर्म-फल में आसक्त होकर जो कर्म करते हैं, उनको भी कर्म करते रहने देना चाहिए, क्योंकि वह अज्ञानी है व कर्म संगी है, विद्वान् लोग तो कर्म प्रेरक होते हैं। वैसे प्रकृति की सब प्रेरणासे सब कर्म होते हैं और अहङ्कारी आत्मा अपने आपको कर्त्ता समझते हैं और तत्त्ववेत्ता बुद्धिमान लोग गुण कर्मों के विभाग को भली प्रकार से समझ करके दुःख नहीं उठाते।

यह सब अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी ने उपरोक्त औपनिषादिक सिद्धान्त को

अपने मुखारविन्द से स्पष्टीकरण के साथ समझाया है कि मनुष्य को इस परमात्म-सत्ता को व्यापक समझ करके निष्काम कर्म रूपसे, त्याग-भाव से कर्म करते रहना चाहिए। इसी सिद्धान्त को इसी ईशावास्योपनिषद् के दूसरे मन्त्र में स्पष्टीकरण के साथ खोलकर कह दिया है। मन्त्र इस प्रकार है—

कुर्वन्नेवेह कर्माणि,
जिजीविशेत् शतं समाः।
एवं त्वयिनान्यथेतोऽस्ति,
न कर्म लिप्यते नरे।

अर्थात् मनुष्य को अपने सौ वर्ष के जीवन के अन्दर इस संसार में कर्म करते हुए जीने की इच्छा करनी चाहिये। जो मनुष्य इस प्रकार करते रहते हैं वे कर्म-बन्धन को प्राप्त नहीं होते, कर्म बराबर करते रहने पर वे सब कर्म मनुष्य के स्वभाव में आ जाते हैं। जैसे खाना-पीना, सोना-जगना, उठना-बैठना, चलना-फिरना वे सब हैं तो कर्म ही, किन्तु इन सब क्रियाओं को क्रियात्मक कर्म ही कहा जायेगा। इन सब क्रियाओं को करते हुए मनुष्य कर्म-फल का भागी नहीं होगा। इसके अतिरिक्त मैं अमुक मन्त्र का जाप कर रहा हूं और इसका यह फल मुझे मिल जाना चाहिए। ऐसी भावना को लेकर जो कर्म करते हैं वे सकाम कर्म कहलाते हैं। जो कर्म मनुष्य की स्वाभाविक आदत में आ जाते हैं वे सब स्वतः ही निष्काम कर्म बन जाते हैं। निष्काम कर्मोंका फल भोक्ता कोई भी व्यक्ति नहीं होता। ठीक इसी सिद्धान्त का श्रीगर्ग-संहिता में भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रजी का एक उपाख्यान मिलता है। वह इस प्रकार है—

एक बार श्री वृन्दावन में श्रीदुर्वासा मुनि आये। दुर्वासा मुनि भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के गुरुदेव थे, इसलिए कुछ भेंट सामग्री दे करके व्रज-गोपियों को उनके दर्शन करने की आज्ञा दी। व्रज-गोपियाँ भगवान् श्रीकृष्ण की आज्ञा को मान करके श्रीदुर्वासा मुनि के दर्शन करने के लिए चल पड़ी। किन्तु सामने यमुनाजी के जल का प्रवाह बहुत अधिक तेज था और वे सबके-सब निराश हो करके लौट आयीं और आकर भगवान् कृष्ण से प्रार्थना की कि महाराज! हम गुरुदेव के दर्शनार्थ नहीं जा सकीं। क्योंकि यमुनाजी में जल बहुत अधिक था। हम उसमें डूब जातीं और बह जातीं, इसलिये हम लौट आई हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने पुनः आज्ञा दी और कहा कि जाओ और यमुना से जाकर कह देना कि यदि भगवान् भोग-वासना से रहित पूर्ण इन्द्रियजयी हैं तो हे यमुना! हमें मुनि दुर्वासा के पास पहुंचने के लिए रास्ता दे दें। व्रज-गोपियों ने ऐसा ही किया और ऐसा करने पर वे सबकी-सब यमुनाजी से पार निकल गईं और वहाँ जा करके गुरुदेव श्रीदुर्वासा मुनि के दर्शन प्राप्त किये और जो भी वे भेंट सामग्री लाई थीं वे सबकी-सब मुनिराज को अर्पित करदीं और श्री दुर्वासाजी ने वे सभी भोग-सामग्री दूध दही, मिठाई, पकवान आदि खा लिए। मुनिराजको प्रणाम करके व्रज-गोपियाँ पुनः पार उतरने के लिए

यमुना किनारे आईं तो देखा कि यमुनाजी में बहुत ही तेज प्रवाह से जल उसी प्रकार बह रहा है। यह सब देख करके गोपियाँ बड़े ही खिन्न मन से दुर्वासा ऋषि के पास गईं और जाकर प्रार्थना की कि हे गुरुदेवजी! श्री यमुनाजी में जल का प्रवाह बहुत अधिक है, हम लोग यमुना पार कैसे जायें? दुर्वासा ऋषि ने पूछा कि तुम लोग आईं कैसे थीं? ब्रज-गोपियों ने भगवान् कृष्ण की निर्वासनिक होने की शपथ दिलाकर आने की बात बतलाई और उस बात को सुन करके दुर्वासा जी ने उत्तर दिया कि जाओ तुम यमुना से जाकर यह कह देना कि यदि दुर्वासा ऋषि बिल्कुल निराहार हैं, कभी कुछ नहीं खाते तो हमें पार जाने का रास्ता दे दें।

ब्रज-गोपियों ने यमुना किनारे जाकर ऐसा ही किया और वे भली प्रकार से पार उतर गईं। किन्तु उनके मनमें आश्चर्य का कोई ठिकाना न था, क्योंकि हजारों गोपियों में रहने वाले भगवान भोग-वासना से रहित, बहुत सारे पकवान को खाने वाले दुर्वासा का निराहारी होना,यही प्रश्न उन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण से किया तो भगवान् श्रीकृष्ण ने गोपियों को वही तत्व समझाया जो ऊपर अर्जुन को उपदेश देते हुए समझाया है और कहा—

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादा-
त्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य
कार्यं न विद्यते॥
नैव तस्य कृतेनार्थो
नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु
कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

—गीता ३/१७-१८

ब्रज-गोपियों को समझाते हुए भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा—हे गोपियो! जो व्यक्ति आत्मरत है और अपने आप में ही सन्तुष्ट है, उसका संसार में कोई भी कार्य अवशेष नहीं रहता। वह संसार में कुछ करे या न करे, उसके ऊपर कोई कर्म-फल लागू नहीं होता। इसी प्रकार से मेरा भी कोई कर्त्तव्य संसार में अवशेष नहीं है। किन्तु जो कुछ भी मैं करता हूँ, वह करने मात्र के लिए करता हूँ, इसलिए मैं करते हुए भी अकर्त्ता हूँ। यह है अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का अनात्मक योग एवं निष्काम कर्मयोग।

ऊपर औपनिषदिक सिद्धांत के अन्दर ईश्वर की व्यापक सत्ता का रूप समझाया और 'इदं सर्वं ईशावास्यम्' कह करके परमात्मा की व्यापक सत्ता का रूपक समझाया एवं बाद के शब्दों में "तेन त्यक्तेन भुञ्जीथाः मा गृधः कस्यस्विद्धनम्" कहकर उसको त्याग-भाव से अर्थात् निष्काम भाव से भोगो। किसी के स्वत्व पर अपना अधिकार मत समझो। इन शब्दों के अन्दर निष्काम उपासना कर्म का पूरा-पूरा आदेश दिया। इसलिये औपनिषदिक सिद्धान्त को समझने वाले हर व्यक्ति को परमात्मा की व्यापक सत्ता को समझते हुए निष्काम कर्मयोग को मन में धारण करके त्याग भाव से ही सब प्रकार से उपभोग करना चाहिए। इस सिद्धान्त का पालन करने वाला मनुष्य अवश्य ही शाश्वत शान्ति को पा जायेगा।

दीक्षा तत्व

आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

मनुष्य के सारे दुःख-दर्द और समस्त चिन्ताओं तथा परेशानियों का कारण उसकी अपनी इच्छा है। इच्छा दो प्रकार की होती है—एक सत् इच्छा है, जिसे शास्त्रीय शब्दावली में मुमुक्षा या विविदिशा अर्थात् दुःखों से छूटने तथा ज्ञान प्राप्त करने की इच्छा कहते हैं। दूसरे प्रकार की इच्छा अनिच्छा, कामना या वासना कहलाती है। वासना ही संसार के जन्म-मरण रूपी महान् दुःख का कारण है। कर्मों के भोग के साथ आग की तपन की तरह या खाज खुजलाने पर सुखानुभूति की तरह भोग में स्पृहा तथा अतिशय रागका बढ़ना कामना और वासना को अग्नि को प्रदीप्त करने का कारण है। वासना ज्यों-ज्यों उद्दीप्त होती जाती है, त्यों-त्यों संसार के बन्धन—काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि सुरसाकी तरह बढ़ने लगते हैं। वासना क्षय होने पर मनोनाश और प्राण-शक्ति का संयम सिद्ध होकर विवेक उपलब्ध हो जाता है। विवेकको उपलब्ध हुआ पुरुष ही निर्लिप्त भाव से संसार का आनन्द ले सकता है, बाकी लोग तो सुख के साधन इकट्ठे कर उसके बोझ से दबकर मर जाते हैं। विवेक उत्पन्न करने को ही योगी बनना कहते हैं। योगी बनने के लिए दीक्षा संस्कार आवश्यक है।

सारे दुःखों का जन्म वासना और कामना से होता है और इनका जन्म मध्याकर्षण से होता है। हमारे शरीर में दो प्रकार की वृत्तियाँ—इन्द्रियाँ तथा क्रियायें होती हैं। मध्याकर्षण से जीव वासनाओं के जाल में फँसता है तथा ऊर्ध्वाकर्षण या अन्तर्मुखी वृत्ति से दुःखों से मुक्त होता है। स्थूल धरातल से सूक्ष्माकाश में बिना सद्गुरुदेव के कोई नहीं प्रवेश करा सकता। श्रीसद्गुरुदेव दीक्षा के द्वारा जीव को मध्याकर्षण से मुक्त करके शिव-सूत्रमें वर्णित "मध्यविकासात् चिदानन्द लाभः"—मध्य नाड़ी के विकास द्वारा चिदानन्द का लाभ कराते हैं। दीक्षा के द्वारा भी सद्गुरु की शक्ति प्राणों में प्रवेश कर जाती है और शनैः-शनैः नाड़ी-शोधन, प्राणरोधन और मनोनिग्रह करके चित्त के समस्त मल—विक्षेप और आवरण को प्रक्षालित कर कर्माशय के कर्मों में शीघ्र भोग की दिशामें लाकर समस्त चित्तवृत्तियों का समूलोन्मूलन कर प्रकृति-पुरुष विवेक रूप भोग में जीवात्मा को प्रतिष्ठित कर देती है। इस प्रकार दीक्षा के द्वारा ही प्राण तर्पण क्रिया होती है और इस क्रिया के फलस्वरूप साधक अपने जीवन को कृत-कृत्य बनाता है।

पूजा, उपासना तथा साधना में तब तक सिद्धि नहीं मिलती जब तक साधक दीक्षा द्वारा जीव के पशु-भाव को दूर कर पशुपति भाव को प्राप्त नहीं होता। मन्त्र-जप, देव-तार्चन तथा स्वाध्याय का फल दीक्षित होने पर ही प्राप्त होता है। जैसे बीज उगने के लिए जुती हुई भूमि में बीज का बोना आवश्यक है उसी प्रकार योग-सिद्धि के लिए दीक्षायुक्त क्रियापरायण होना आवश्यक है। प्रायः लोक में यह धारणा विद्यमान है कि बिना गुरु के गति नहीं होती और 'निगुरा'

के हाथ से देवता, पितृगण तथा ऋषिगण, पिण्ड, दान, तर्पण होम तथा अर्चना को स्वीकार नहीं करते। योगिनी तन्त्र में कहा गया है कि बिना दीक्षित हुए जो लोग जप-पूजादिक क्रियायें करते हैं वे उसी प्रकार फलवती नहीं होती, जिस प्रकार पत्थर पर बोया हुआ बीज नहीं उगता।

अदीक्षिता ये कुर्वन्ति,
जप पूजादिकाः क्रियाः।
न भवेत्तु फलं तेषां,
शिलायां वुप्त बीजवत्॥

कोई व्यक्ति शास्त्रों से पढ़कर या दूसरों से सुनकर या जानकर योग-क्रियायें करने लग जाय तो उसे उनमें पूर्ण सफलता नहीं मिलती, क्योंकि सद्गुरु शक्ति का जब तक उसके मन के साथ सम्बन्ध नहीं जुड़ता, तब तक मन्त्रादि चैतन्य नहीं हो पाते। जैसे घर में अच्छी तरह बिजली के तार लगा दिये जायँ तथा अच्छा बल्ब भी लगा दिया जाय, किन्तु उसको पावर लाइन से न जोड़ा जाय तो सब कुछ होते हुए भी प्रकाश नहीं हो सकता।

रुद्रयामल तन्त्र में दीक्षा की आवश्यकता के विषय में कहा गया है कि बिना दीक्षा के पाप-समूह अपना प्रभाव दिखाते रहते हैं, जिससे जीव कुत्सित नीच योनियों में जन्म लेता रहता है। दीक्षाहीन व्यक्ति के पुण्य-कर्म अपना सही मार्ग न जानने के कारण धीरे-धीरे क्षीण हो जाया करते हैं। दीक्षा के बिना मनुष्य मोहान्धकार में निमग्न हो जाता है। दीक्षा उच्चकोटि का संस्कार है। जिस प्रकार भूगर्भ से निकालने पर रत्नों की घर्षण, दाहकर्म, जल आदि से शुद्धि होती है उसी प्रकार दीक्षासे ही मनुष्य के गर्भकालीन दोष दूर होते हैं और मनुष्य का पुनर्जन्म होता है। माता-पिता के द्वारा प्रदत्त शरीर से योग-सिद्धि नहीं होती। श्री सद्गुरुदेव योग-सिद्धि के लिए साधक को स्थूल शरीर का विस्मरण कराके सूक्ष्म शरीर में उसे अधिष्ठित करते हैं, तभी वह सिद्धिका अधिकारी बनता है। इसी को नाथ योगियों की भाषा में 'मार कर जिलाना' "मरजीवा" होना आदि-आदि कहा गया है। कुछ सूफी सन्त दीक्षा को 'सगाई सम्बन्ध' कहते हैं। सद्गुरु दीक्षा के द्वारा जीवात्मा की सगाई परमात्मा से करवाते हैं। जीव जब तक कुँआरा रहता है तब तक जन्म मरण तथा दुःख-व्याधियों के चक्र में भटकता रहता है। जब दीक्षा सम्बन्ध से वह मनमुख से हटकर गुरुमुख हो जाता है तो अन्तर्मुखी वृत्ति होना ही उसकी सगाई है। जब जीव को उसके पति मिल जाते हैं तो जीवरूपी स्त्री सुहागिन बन जाती है। फिर उसे किसका भय है? उसका रक्षक स्वामी उसके योगक्षेम का निर्वाह करने वाला जो हो गया। जो एक पति की होकर स्त्री रहती है, उसका दायित्व पति पर आ जाता है। किन्तु वेश्या अनेकों पति करके भी बिना पति के बनी रहती है और पाप कमाते-कमाते नष्ट हो जाती है।

अनीश्वरस्य मर्त्यस्य नास्ति
त्राता पथा भुवि।

तथा दीक्षा विहीनस्य,
नेह स्वामी परत्र च ॥
—दत्तात्रेय तन्त्र

जैसे संसार में बिना स्वामी के व्यक्ति का कोई रक्षक नहीं होता, उसी प्रकार दीक्षा बिना मनुष्य का न यहाँ कोई रक्षक होता है और न मृत्यु के बाद अगम मार्गमें कोई रक्षक होता है। श्रीमद्भागवत में गजेन्द्र मोक्ष का उपाख्यान आता है। जब ग्राह ने गजेन्द्र का पैर पकड़ लिया और उसे गहरे जलमें खींचने लगा तो गजराज ने अपनी सारी शक्ति लगा दी, किन्तु रक्षा न हो सकी। अन्त में अपने बल का भरोसा छोड़कर उसने पुण्डरीक नारायण का स्मरण किया। वह स्मरण अकस्मात् वहीं हो गया। पूर्व-जन्म में जब वह राजा इन्द्रद्युम्न था तो नारद ऋषि से उनको दीक्षा हुई थी तथा उन्हें नारायण मन्त्र प्राप्त हुआ था। कर्म विपाकवश उसे हाथी की योनि में जन्म लेना पड़ा, किन्तु संकट उपस्थित होने पर वह पूर्व-जन्म का दीक्षा संबंध जाग्रत हो गया। गजराज के हृदय में पूर्व-जन्म का मंत्र जग गया और वह एकाग्र मन से उसका जप करने लगा। भय, काम, क्रोध और प्रेमके समय मन स्वतः एकाग्र हो जाता है। 'मंत्राधीनो हरिः' भगवान् मंत्र शक्ति से प्रकट हो जाते हैं। गजराज के पूर्व-जन्म के दीक्षा संस्कार ने इस जन्म में विष्णु भगवान् को रक्षा के लिए करुणार्द्र कर दिया और वे आनन-फानन में अपने लोक से गरुणारूढ़ होकर गजराज के समक्ष उपस्थित हो गये। श्रीमद्भागवत् में श्री शुकदेवजी महाराज कहते हैं—

एवं व्यवसितो बुद्ध्या,
समाधाय मनोहृदि।
जजाप परमं जाप्यं,
प्राग्जन्मन्यनुशिक्षितम् ॥

अर्थात् मनको हृदय में स्थित करके गजराज पूर्व-जन्म में जपे हुए मंत्र का स्मरण करके एकाग्र मन से जपने लगा।

दीक्षा विहीन व्यक्ति के पितरगण उसके हाथ के श्राद्ध भी ग्रहण नहीं करते। मत्स्य-सूक्त का वचन है कि अदीक्षित व्यक्ति के हाथ से पितरों को समर्पित अन्न विष्ठा के समान, जल मूत्र के समान अपवित्र होता है, जिससे उसके पितर अधोगति को प्राप्त होते हैं। दीक्षा से पापराशि क्षीण होने लगती है और पुण्य कर्मों को भोग में आने का मार्ग मिलता है। भगवान् सदाशिव का भी यह आदेश है कि दीक्षाके बिना प्राणियों को मोक्ष नहीं मिलता। मल, माया, अविद्या और कर्म-समूह ईश्वर के अनुग्रह मार्गको आच्छादित कर देते हैं। जब जीव इन पाशों से मुक्त होता है तभी पशुपति बनता है। यह सृष्टि दो प्रकार की मानी जाती है—शुद्ध और अशुद्ध। अशुद्ध सृष्टि का नियन्त्रण भगवान सीधे स्वयं नहीं करते, इस कार्य को वे शुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत विद्यमान व्यूह, व्यूहान्तर, विभव अथवा मन्त्र, मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर आदि के द्वारा करते हैं। सिद्ध लोग मंत्रशक्ति से इस सृष्टि का ईश्वर की आज्ञा से नियंत्रण

करते है। ईश्वर का अनुग्रह प्राप्त करने के लिए जीव को पाशमुक्त होने के लिए गुरु की शरण में जाना आवश्यक है। गुरु-कृपा शक्ति पात या ईश्वर अनुग्रह नाम भेद से एक ही तत्व के नाम हैं। अनुग्रह प्राप्त करने के लिए जीवको गुरु-प्रदत्त मंत्रका जप करना चाहिए। गुरु दीक्षा के समय अपने को परात्पर सत्ता से संयुक्त कर चैतन्य शक्ति को शिष्य के हृदय में बीज-रूप से मंत्र-रूप में बोता है। शिष्य प्रतिदिन नियमित अभ्यास द्वारा उस बीज को अपनी साधना द्वारा सींचता रहता है और उसकी हर संकट से रक्षा करता रहता है। शनैः-शनैः वह मंत्र के रूपमें दिया गया शक्ति का बीज सिद्धिके रूप में फलयुक्त वृक्ष बन जाता है। इस प्रकार जो पहले बच्चा था वही एक दिन पिता बन जाता है। 'ओंतो ब्रह्मैव भवति' यही स्थिति है, जिसे पाने के लिए दीक्षा विधान है। शिष्य मंत्र के प्रत्येक पद और अक्षर का अनुलोम-विलोम मन्थन और विश्लेषण करते हुए वैखरी से लेकर मध्यमा, पश्यन्ति तथा परा वाणी तक उसे ले जाता है। अर्थात् वाचिक, उपांशु तथा मानसिक जप करते हुए मंत्र के शब्द अर्थ विभाग को केवल अर्थ रूप में बुद्धिस्थ कर अनुभव गम्य बनाता है तो वह मंत्र देवता, छन्द, ऋषि तथा विनियोग को प्रकट करने की सामर्थ्य वाला बन जाता है। परा वाणी से विवेक की स्थिति प्राप्त होती है। पहले चेतन अंश यह जीवन नाना प्रकार के कर्मों के कारण कभी जगदीश, कभी कृष्ण तथा श्याम के रूप में स्वयं को जानने के कारण नाम-रूप में सिमट गया था। रामचरित मानस में कहा है—'नामरूप दो जीव उपाधि।' जब जीव की शक्ति संकुचित हो जाती है तो वह अपने स्वरूप को भूल बैठता है। अपने असली स्वरूप की विस्मृति ही बन्धन है तथा स्वरूप की स्मृति ही मोक्ष कहलाती है। शक्तिपात दीक्षा द्वारा गुरुदेव जीव को उसके स्वरूप का स्मरण कराते हैं। विभिन्न सम्प्रदाय में दिये गये गुरु-मंत्र का विश्लेषण करके देखा जाय तो यह तथ्य सत्य प्रमाणित होता है। कोई भी मंत्र हो—चाहे वेदों के महावाक्य हों, यथा—तत्त्वमसि, अयमात्मा ब्रह्म, अहम् ब्रह्मास्मि आदि अथवा सोऽहम्, शिवोऽहम्, दोसोऽहम् आदि अथवा मणि पद्मेहुंणभोऽरिहन्तारस् प्रभृत्ति मंत्रों में आत्माकारक चित्तवृत्ति का निर्माण करके अपनी खोयी हुई याद को पुनः जगाने का प्रयत्न किया जाता है। ईश्वर जब अनुग्रह करता है तो उसके अनुग्रह का प्रारम्भिक लक्षण किसी सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त होना है। जिसके अनुग्रह से अज्ञान ग्रन्थिका नाश होता है तथा अखण्ड मण्डलाकार व्याप्त सत्य सत्ता का निज हृदय में बोध होता है वे ही सद्गुरु कहलाते हैं। कर्मक्षय होने पर सद्गुरु बिना खोजे ही अनायास मिल जाते हैं और वे ईश्वरेच्छा से स्वतः दीक्षा दे दिया करते हैं। जैसे कि प्रसिद्ध योगिराज लाड़ली महाशय के साथ हुआ। वे सेना के संभरण एवं आपूर्ति विभाग में सेवारत थे। उनका स्थानांतरण

अकस्मात् भिर्जापुर की तरफ से रानीखेत हो गया। वहाँ उनके लिए कोई काम नहीं था। एक दिन घूमने के बहाने पहाड़ों की ओर निकल पड़े। थोड़ी दूर पर ही उन्हें बाबाजी के एक शिष्य ने गुफा के अन्दर बुलाकर उनके दर्शन करा दिये। बाबाजी ने उनकी भावनानुसार अपनी योग-शक्ति से स्वर्ण का सिंहासन बनाकर उस पर बैठकर लाहिड़ी महाशय को दीक्षा की और आदेश दिया कि मेरी इच्छा से तुम्हारा स्थानांतरण रानीखेत हुआ था, क्योंकि तुम्हारी दीक्षा का समय आ गया था। अब तुम्हें वापिस पहले स्थान पर लौटने का आदेश मिलेगा, तुम वापिस अपने पूर्व अपने स्थान पर लौटकर साधना करना। कभी-कभी कर्मक्षय के लिये साधक को सद्गुरु की खोज करनी पड़ती है। मोक्ष की प्रबल इच्छा उपस्थित होने पर (मुमुक्षा होने पर) सद्गुरु स्वयं भगवत्प्रेरणा से साधक के समक्ष उपस्थित हो जाया करते है।

जीवों की योग्यता के अनुसार शक्तिपात का प्रकाश होता है। उसीके अनुसार विविध प्रकार की दीक्षाओं का विधान है। सद्गुरु तरह-तरह की दीक्षाओं से साधक के अन्तःकरण को प्रकाशित किया करते हैं। दीक्षा द्वारा शक्तिपात विधान सिद्धयोगी और साथ ही ज्ञानी उभयरूप सद्गुरुदेव कर सकते हे। सामान्य गुरु केवल ज्ञान-दीक्षा या विज्ञान-दीक्षा दे सकता है। दोनों प्रकार की दीक्षायें कोई सिद्धयोगी ही दे सकता है। वे ही शिष्य को भोग और मोक्ष दोनों एक साथ प्रदान करने की सामर्थ्य रखते हैं। शिव-सूत्र में गुरु को उपाय (गुरुरुपाय) कहा गया है। मंत्र और मुद्रा आदि का सरहस्य-ज्ञान दीक्षा-तत्व की परिणति से होता है। जीव सद्गुरु से दीक्षा प्राप्त कर साधना द्वारा शिव-भावापन्न होते हैं तथा सब विद्याओं को जानकर जीवन्मुक्त हो जाते हैं। दीक्षा के प्रभाव से शिष्य में देह और गेहमें आसक्ति नहीं रहती। जिस प्रकार कोई कन्या अब तक जिस पिताके घरमें खेली थी, उसे अपना समझे बैठी थी। अब उसकी शादी तय हो जाती है, तो वह होने वाले घर को अपना वास्तविक घर समझकर पिता के घर से शनैः-शनैः आसक्ति कम कर देती है। फिर एक समय ऐसा आता है कि वह बाल-बच्चों वाली होकर पिता के घर चली भी जाय, तो वहाँ अधिक रुकना उसे अच्छा नहीं लगता। हर क्षण उसे अपने घर की चिन्ता लगी रहती है। उसी प्रकार दीक्षा होना 'मंगनी' है। इससे देहादि में आत्माभिमान शिथिल होने लगता है और निर्विकल्प स्वात्म बोध प्रकाशित होता है। जिस क्षण गुरुदेव निर्विकल्प का पूर्ण प्रकाश कर देते है, उसी क्षण हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है तथा शिष्य यन्त्रवत् लौकिक व्यवहार करता हुआ मुक्तावस्था का आनन्द लेता है। यह कार्य तब होता है, जब सद्गुरु-कृपा और शिष्य की क्रियाभ्यास निपुणता दोनों इकट्ठे हो जाते हैं।

—(क्रमशः)

यौगिक चमत्कारों का नियम

* डा० श्री विजयसिंह

परमहंस योगानन्दजी अपनी आत्म-कथा के अन्तर्गत योगियों द्वारा चमत्कार कैसे प्रकट किया जाता है, इस संदर्भ में आधुनिक विज्ञानवादी दृष्टिकोण तथा अपनी अनुभूतियों के समन्वय भाव व्यक्त किये हैं। उनका कहना है कि सर्व साधारण को एक योगी का पानी पर चलना, रोग-शोक हरण करना, मृत शरीर को पुनर्जीवित करना आदि चमत्कार प्रतीत होता है, क्योंकि उसे उन सूक्ष्म प्राकृतिक नियमों का ज्ञान नहीं है, जिन्हें योगी साधिकार जानता व घटित करता है। अस्तु, इस विषय को ज्यों का त्यों हम उन्हीं के अपने शब्दों में वर्णित करते हैं। 'सिद्धयोग' के पाठक इससे अवश्य ही लाभान्वित होंगे।

वैदिक धर्मग्रन्थों की घोषणा है कि भौतिक जगत् माया के केवल एक ही मूलभूत सिद्धांत सापेक्षता और द्वैत के सिद्धान्त के अन्तर्गत परिचालित होता है। ब्रह्म एकमात्र अद्वितीय चेतन तत्व है; एक सृष्टि के पृथक् नाना रूपों में उसका प्रकट होना मिथ्या आवरण धारण करना है। यह भ्रांतिजनक द्वैतपरक आवरण ही माया है। आधुनिक काल के अनेक बड़े-बड़े वैज्ञानिक आविष्कारों से प्राचीन ऋषियों के इस सरल उद्घोषणा की पुष्टि हुई है। न्यूटन का 'गति-नियम' 'माया' का ही नियम है। प्रत्येक क्रिया की सदैव समान और विपरीत प्रतिक्रिया होती है। प्रत्येक आधार भूत क्रिया अपनी माया के मूल कर्ता का ही परिचय देती है। बिजली अपकर्षण और आकर्षण युक्त है। स्वयं अणु में भी धन और ऋण आवेसित कण हैं। भौतिक विज्ञान, रसायन या किसी भी विज्ञान का कोई विधान सहज विपरीत या परस्पर विपर्यासी सिद्धान्तों से मुक्त नहीं है।

अतः आधुनिक विज्ञान सृष्टि की अंगभूत माया के बाहर कोई सिद्धान्त निर्धारित नहीं कर सकता, स्वयं प्रकृति माया है। माया अपने में शाश्वत व अक्षय है। भावी वैज्ञानिक भी उसकी विविध अनन्तता के अनेक अंगों का ही उद्घाटन कर रहे हैं। विज्ञान सतत् परिवर्तनशील है, पर अन्तिम सत्ता तक पहुंचने में असमर्थ है। गुरुत्वाकर्षण और विद्युत की भव्य अभिव्यक्तियां ज्ञात हो चुकी हैं, पर गुरुत्वाकर्षण और विद्युत है क्या, यह कोई व्यक्ति नहीं जानता।

सहस्राब्दियों से सिद्ध पुरुषों ने माया पर विजय पाने का पुरुषार्थ मानव जाति को सौंप रखा है। सृष्टि की द्वयता से ऊपर उठ कर सृष्टिकर्त्ता के साथ एकता का अनुभव करना मनुष्य का सर्वोच्च ध्येय माना गया है। जो इस माया में लिपटे रहते हैं, उन्हें जन्म व मृत्यु को बारम्बार प्राप्त होना होगा। मनुष्य को कुछ हजार जन्म लेने के पश्चात् यह आवागमन का चक्र दुःखमय और नीरस प्रतीत होने लगता है, तब वह माया के बन्धन से बाहर आशापूर्ण दृष्टि डालने लगता है।

माया के आवरण को दूर करने का अर्थ है सृष्टि के रहस्य को अनावृत्त करना। जो व्यक्ति विश्व को नग्न रूप में देख लेता है, केवल वही सच्चा अद्वैती है, अन्य सभी मूर्ति-पूजक हैं। जब तक वह द्विमुखी दैवी माया की आराधना करता है; वह सच्चे एकमेव ब्रह्म को नहीं पहचान सकता।

यही माया मनुष्य में अविद्या के रूप में व्यक्त होती है। अविद्या का अक्षरशः अर्थ है "ज्ञान नहीं" भ्रान्ति। माया बौद्धिक तर्क द्वारा कदापि नष्ट नहीं किया जा सकता; केवल "निर्विकल्प समाधि" की आभ्यन्तरिक स्थिति द्वारा ही उसे नष्ट किया जा सकता है। योगी भृकुटि के मध्य में स्थित दिव्य-दृष्टि के द्वारा अपने चैतन्य को सर्व व्यापक बना लेता है और ओम् ध्वनि तथा ज्योति ही सृष्टि की एकमात्र सत्ता है।

जगत् के कोटि रहस्यों में प्रकाश सबसे अधिक प्रतीयमान है। ध्वनि तरंगों के विपरीत, जिनके संचारण के लिए माध्यम की आवश्यकता होती है। प्रकाश-तरंगें अन्तरतारकीय आकाश शून्य के भीतर सरलता से प्रसारित हो जाती हैं। मानव-जगत् के देश और काल के समस्त मानदण्ड प्रकाश-वेग की एकमात्र 'निरपेक्ष' नित्य मानता पर आधारित है। अब तक भावात्मक रूप से शाश्वत समझे जाने वाले काल, देश भी सापेक्ष और मर्यादित हैं।

सापेक्षवाद के युगान्तरकारी सिद्धान्तों से ही सूक्ष्मतम् परमाणु का गणित द्वारा अनुसंधान सम्भव हुआ है। अब महान वैज्ञानिक साहस के साथ न केवल यह घोषित करते हैं कि अणु पदार्थ नहीं है-शक्ति है, किन्तु यह भी घोषित करते हैं कि परमाणु शक्ति तत्त्वतः मानस-द्रव्य है। सर जेम्स जी ने "रहस्य पूर्ण ब्रह्माण्ड" में लिखा है कि "ज्ञान का प्रवाह यंत्रविहीन सत्य की दिशा में बढ़ रहा है; विश्व एक विशाल यंत्र की अपेक्षा एक महान विचार की भाँति अधिक दिखाई देने लगा है।

जैसाकि पहले कहा जा चुका है; प्रकाश-वेग एक गणितिक प्रतिमान है और वह ऐसा इसलिए नहीं है कि प्रति सेकेण्ड १,८६,२०० मील वेग का कोई निरपेक्ष मूल्य है, लेकिन इसलिए कि कोई भी पदार्थ, जिसके वेग के साथ उसका द्रव्यमान भी बढ़ जाता है, प्रकाश के वेग को नहीं पा सकता। दूसरे शब्दों में कहें तो केवल अनन्त द्रव्यमान वाला भौतिक पदार्थ ही प्रकाश-वेग की समानता कर सकता है।

यह सम्बोध हमें चमत्कार के नियम के पास ला देता है।

जो सिद्ध पुरुष अपने शरीर अथवा अन्य पदार्थों को इच्छामात्र से प्रकट या अदृश्य कर देने, प्रकाश-वेग के समान गति से चलने और सृजनकारी प्रकाश-किरणों का उपयोग कर किसी भी भौतिक पदार्थ को तत्काल दृश्यमान कर देने की शक्ति रखते हैं, उन्होंने विस्मयकारी प्रतिबन्ध को पूरा कर दिया है "उनका द्रव्यमान अनन्त है"।

पूर्ण योगी की चेतना संकीर्ण शरीर में नहीं बसती, लेकिन निखिल विश्व के साथ सहज रूप से अखिल रहती है। जो अपने को सर्वव्यापी आत्मा या ब्रह्मतत्त्व के रूप में पहचानता है, वह काल एवं देश की सीमा में आबद्ध नहीं रहता। "सोऽहं" की शक्ति के सामने उनके सारे बन्धन टूट जाते हैं।

'यहाँ प्रकाश हो' और प्रकाश हो गया। सृष्टि रचना के समय ईश्वर के प्रथम आदेश से अनिवार्य सत्त्व के रूप में प्रकाश का आविर्भाव हुआ। इसी अपार्थिव माध्यम (प्रकाश) की किरणों पर सारी दैवी अभिव्यक्तियाँ घटित होती हैं। प्रत्येक युग के द्रष्टाओं ने ईश्वर को अग्निशिखा या प्रकाश रूप में प्रकट होता वर्णित किया है। सेंट जान ने कहा है—"उसकी आँखें अग्निशिखा के समान और उसका शरीर सूर्य के प्रखरतम तेज के समान था।"

एक योगी, जिसने पूर्ण ध्यान द्वारा अपनी चेतना को "सृष्टि कर्ता" के साथ विलीन कर लिया है, विश्व सम्बन्धी तत्त्व को प्रकाश (जीवनी-शक्ति के स्पन्दन) के रूप में अनुभव करता है। उसके लिये जल की रचना करने वाली प्रकाश की किरणों और भूमि की रचना करने वाली प्रकाश-पुंजों के बीच कोई अन्तर नहीं है। पदार्थ-चेतना से मुक्त, आकाश के तीन तथा काल के चौथे आयाम से मुक्त, सिद्ध पुरुष अपनी प्रकाश-देह को पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु की प्रकाश-किरणों के बीच में या ऊपर से समान सरलता के साथ परिचालित कर सकता है। एक अन्तरदृष्टि सम्पन्न योगी जगत को उसी रूप में देखता है जिस रूप में विधाता ने उसकी सृष्टि की है: तत्त्वतः विभेदहीन प्रकाश-समूह है।

चमत्कारों के नियम का परिपालन किसी भी व्यक्ति द्वारा सम्भव है, जिसने इस बात का अनुभव कर लिया है कि सृष्टि का सत्त्व प्रकाश है। सिद्ध पुरुष का प्रकाश की अद्भुत घटना के दैवी ज्ञान के प्रयोग द्वारा सर्वव्यापी प्रकाशाणुओं को इन्द्रिय-गोचर अभिव्यक्ति में तत्काल प्रतिबिम्बित कर सकने का सामर्थ्य प्राप्त है। प्रक्षेपण के वास्तविक रूप (वह जो भी हो, एक वृक्ष, एक औषधि, एक मानव-देह) का निर्धारण योगी की इच्छा तथा मानस-दर्शन पर निर्भर है।

रात में मनुष्य स्वप्न—चैतन्य की अवस्था में प्रवेश करता है, और दिन में जो झूठी अहंवादी सीमाएँ उसे घेरे रहती हैं उनसे मुक्त हो जाता है। निद्रावस्था में वह अपने मन की सर्वशक्तिमत्ता का सदैव पुनरावर्तक प्रदर्शन करता है। देखो! स्वप्न में उसके दीर्घ समय के मृत मित्र, दूरवर्ती महाद्वीप, उसके पुनरुत्थित बाल्यावस्था के दृश्य प्रकट होते हैं।

वह मुक्त और अप्रतिबन्ध चैतन्य, जिसका संक्षेप में अनुभव सब मनुष्यों को स्वप्नावस्था में होता है, एक समाधिस्थ सन्त की स्थायी व सम्पूर्ण मनोवस्था है। काल और देश का स्वामी सब व्यक्तिगत अभिप्रायों से अलिप्त योगी स्रष्टा द्वारा प्रदान की हुई सृजनात्मक

इच्छाशक्ति का प्रयोग करके विश्व के प्रकाशाणुओं को किसी भी भक्त की सच्ची प्रार्थना को पूर्ण करने के लिये पुनः व्यवस्थित करता है।

१९१५ में मेरे सन्यास-ग्रहण के थोड़े ही दिन बाद मुझे परस्पर विरोधी एक विचित्र अन्तर्दर्शन प्राप्त हुआ। उसमें मानवी चेतना की सापेक्षता की स्पष्ट रूप से पुष्टि हुई। मैंने माया के दुःखद द्वैत के पीछे अनन्त प्रकाश की अखण्डता की स्पष्ट झांकी देखी। एक दिन प्रातःकाल जब मैं पिताजी के पास गड़-पार रोड पर स्थित घर के एक छोटे प्रकोष्ठ में बैठा हुआ था तब मुझे एक दर्शन हुआ। कई महीनों से यूरोप में प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था, जिसमें हो रहे विशाल मानव-संहार पर मैं मन ही मन दुःखी हो रहा था।

मैंने ध्यान लगाने के लिये जैसे ही आँखें बन्द की, मेरा चैतन्य अचानक एक युद्धपोत कप्तान के शरीर में संक्रांत हो गया। समुद्र तट की तोपों और जहाज की तोपोंकी गर्जना वातावरण में गूँज रही थी। हमारे बारूद भण्डार पर एक भयंकर तोप-गोला आ लगा और हमारे जहाज के टुकड़े-टुकड़े हो गये। विस्फोट से बचे थोड़े से नाविकों के साथ मैं पानी में कूद पड़ा।

धड़कते हृदय के साथ मैं सुरक्षित किनारे पर पहुंच गया, परन्तु आह! एक गोली ने मेरी छाती को विद्ध कर दिया और मैं कराहता जमीन पर गिर पड़ा, मेरा सारा शरीर सुन्न हो गया। फिर भी, जिस प्रकार एक पैर के सुन्न होने पर मनुष्य चेतन रहता है, उसी प्रकार अपने शरीर के विषय में भी मैं सचेत था।

मैंने सोचा "अन्ततः मृत्यु के रहस्यपूर्ण कदम पास आ गये हैं।" अन्तिम आह के साथ मैं अचेत होने ही वाला था कि मैंने स्वयं को अपने गड़पार रोड वाले घर में पद्मासन में बैठे हुए पाया। मैं अपने पुनः प्राप्त शरीर को टटोलने और चिकोरी काटने लगा तथा मेरे नेत्रों से आनन्दाश्रुओं की धारा बहने लगी। मेरी छाती में गोली का कोई घाव नहीं था। स्वयं को आश्वस्त करने के लिए कि मैं जीवित हूँ, मैंने शरीर को आगे-पीछे डुलाया और बार-बार श्वासोच्छ्वास किया। किन्तु तभी मेरा चैतन्य रक्तरंजित समुद्र-तट पर पड़े कप्तान के मृत शरीर में पुनः संक्रान्त हो गया। मैं अत्यन्त उलझन की स्थिति में पड़ गया।

मैं प्रार्थना करने लगा—मेरे प्रभु! "मैं मृत हूँ या जीवित?" समस्त क्षितिज एक तीव्र प्रकाश से भर गया। एक धीमे स्पन्दन की मर्मर-ध्वनि वाणी में परिणत हो गई।

"प्रकाश के साथ जीवन अथवा मरण का क्या सम्बन्ध है? जीवन और मृत्यु का द्वन्द्व केवल माया-जगत् में है। तुम अपने मायातीत रूप (तुरीयावस्था) का स्मरण करो। जागो, मेरे बच्चे तुम जागो।

एक दिन यूरोपीय युद्ध-क्षेत्रोंके समाचार-फिल्म को देखने मैंने एक सिनेमा-भवन में प्रवेश किया। अभी पश्चिमी देशों में प्रथम विश्व-युद्ध चल रहा था। समाचार-फिल्म ने

नर-संहार का इतना वास्तविक दृश्य प्रस्तुत किया कि मैं व्यथित हृदय से सिनेमा-भवन से चल पड़ा।

मैं प्रार्थना करने लगा—हे प्रभो! आप इस दुःख भोग की अनुमति क्यों दे रहे हैं?

मुझे बहुत आश्चर्य हुआ, जब तत्कालीन उत्तर वास्तविक योरोपीय संग्राम-भूमि के दिव्य-दर्शन के रूप में मिला। वे दृश्य मृतकों एवं मरणासन्न मनुष्यों से परिपूर्ण और क्रूरता में समाचार-फिल्म के प्रदर्शन से कहीं बढ़कर थे।

"इच्छापूर्वक देखो।" एक मन्द वाणी ने मेरी आन्तरिक चेतना से कहा—"तुम देखोगे कि ये दृश्य, जो फ्रान्स में अभिनय किये जा रहे हैं, प्रकाश व छाया-चित्रण के खेल से अधिक कुछ नहीं हैं। ये ब्रह्माण्डीय चल-चित्र हैं। ये उतने ही सत्य और मिथ्या हैं, जितने चलचित्र-भवन में समाचार फिल्म में तुमने देखे हैं।" एक नाटक में सम्मिलित एक और नाटक।

मेरा हृदय अब भी शान्त नहीं हुआ। दिव्य-वाणी ने फिर कहा—"सृष्टि, प्रकाश और छाया दोनों है। नहीं तो कोई भी चित्र सम्भव नहीं है। माया के भले व बुरे गुण बारी-बारी से प्रबल होते हैं। यदि इस जगत् में निरन्तर आनन्द ही आनन्द रहे, तो क्या मनुष्य किसी दूसरे की आकांक्षा करेंगे? दुःख का अनुभव किये बिना मनुष्य को यह स्मरण करने की चिन्ता नहीं होगी कि वह अपने शाश्वत-धाम को छोड़कर यहाँ आया है।

इस परिच्छेद का लिखना समाप्त करने के बाद मैं अपने बिस्तर पर पद्मासन में बैठा हुआ था। मेरे कमरे में दो हल्कनयुक्त लैम्पों का धीमा प्रकाश हो रहा था। दृष्टि उठाकर ऊपर देखा कि छत में सरसों के रंग के छोटे-छोटे प्रकाश-बिन्दु रेडियम के समान जगमगा रहे हैं। वर्षा की रेखाओं के समान असंख्य प्रकाश-किरणें पारदर्शक बाणों का रूप धारण कर मेरे ऊपर शांतिसे बरस रही थीं। तत्काल मेरे भौतिक शरीर की स्थूलता समाप्त हो गई और वह सूक्ष्म में परिणत हो गया। मुझे प्रतीत होने लगा मानो मैं तैर रहा हूं। मेरा भारहीन शरीर बिछौने पर नाममात्र को स्पर्श करते हुए दायें-बायें बारी-बारीसे हिलने लगा। मैंने कमरे में चारों ओर देखा कि फर्नीचर और दीवारें ज्यों की त्यों थीं, किन्तु प्रकाश-बिन्दुओं का समूह इतना विस्तृत हो गया था कि मैं छत को नहीं देख सकता था। मैं आश्चर्य-चकित हो उठा।

प्रकाश से एक आवाज आई—यही जागतिक चल-चित्र यन्त्रन्यास है जो तुम्हारे बिछौने की चद्दर के श्वेत पर्दे पर अपना प्रकाश-बिम्ब निक्षेपित कर तुम्हारे शरीर का चित्र तैयार कर रहा है। देखो, तुम्हारी आकृति प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। मैंने अपनी बाहोंको देखा और उन्हें आगे पीछे घुमाया, परन्तु मुझे उनका भार अनुभूत नहीं हुआ, मेरा हृदय आह्लाद से भर गया। दीर्घ समय तक हम अपने शयन-कक्ष रूपी नाट्य-गृह में अपने शरीर का चल-चित्र देखते

परमानन्द की अभिलाषा

श्री जे० कृष्णमूर्ति

उस प्रशस्त हरियाली पर वह एकमात्र विशाल वृक्ष आसपास के क्षेत्र का केन्द्र बिन्दु ही बन गया था। उस क्षेत्र में वह घर, वह छोटा सा जलाशय और वह झाड़ी भी समाविष्ट थी और ऐसा लग रहा था, मानो वहाँ का जीवन-प्रवाह उस केन्द्र बिन्दु की ओर—उस विशाल और उत्तुंग वृक्ष की ओर बहता चला आ रहा है। वह वृक्ष बहुत प्राचीन था। लेकिन उसमें कुछ ऐसी ताजगी विलसित हो रही थी मानो यह वृक्ष अभी-अभी जमीन से ऊपर उभरा है। उसकी शायद ही कोई शाखा सूखी हो। उसके ताजे पत्ते प्रातःकालीन कोमल प्रकाश में विलक्षण रूप से चमक रहे थे। आसपास के सारे क्षेत्र में यही एक विशाल वृक्ष था, इसलिए सभी प्राणी उसी की ओर खिंचे चले आ रहे थे। उसकी विस्तीर्ण छाया में हरिण, बगुले, खरगोश और गाय-भैंस आदि सारे प्राणी विश्राम पाते थे। विशेष रूप से दोपहर में तो मानो उन सबकी सभा ही जमती थी। उस वृक्ष की शाखाओं के भरे-पूरे सरस-सौन्दर्य के कारण आकाश को भी एक अनोखा सौन्दर्य प्राप्त हो गया था। प्रातःकाल के कोमल प्रकाश में तो ऐसा लगता था कि यह वृक्ष ही एक जीवन्त चिन्मय वस्तु है। चारों ओर की झाड़ी में से देखने पर यह वृक्ष दूर-दूर लगता था, लेकिन वृक्ष के निकट से देखने पर वह झाड़ी, वह घर और आकाश तक एकदम निकट लगते थे—इतने निकट कि हाथ ऊँचा करते ही मानो आकाश में दौड़ने वाले मेघों का स्पर्श हो जायगा।

इस विशाल वृक्ष के नीचे हम कुछ देर बैठे थे। इतने में वह व्यक्ति हमारे निकट आकर बैठ गया। वह कह रहा था कि ध्यान धारणा की ओर उसका विशेष झुकाव था और पिछले अनेक वर्षों से वह ध्यान-धारणा करता आया है। वह किसी भी विशिष्ट सम्प्रदाय का नहीं था। वह यह भी कह रहा था कि ईसाई धर्म के गूढ़ तत्ववादियों की अनेक पुस्तकें उसने पढ़ी हैं। फिर भी हिन्दू और बौद्धधर्मीय सत्पुरुषों द्वारा प्रवर्तित ध्यान धारणा और साधना के रूपों और प्रकारों का उसे विशेष आकर्षण है। वह बता रहा था कि कठोर तपस्या की अपरिहार्यता शीघ्र ही उसके ध्यान में आ गई थी और इसीलिए संयम की ओर आरम्भ से उसका झुकाव था

रहे। मेरे स्थूल शरीर का भ्रम-जाल पूर्णतः विलुप्त हो गया और मेरी यह अनुभूति और गहरी हो गई कि समस्त पदार्थों का सत्व प्रकाश ही है। मैंने ऊपर स्पन्दनशील "प्राण-कणिकाओं के स्रोत को देखा और विनयपूर्वक कहा—

"दिव्य ज्योति! कृपा करके मेरे इस तुच्छ शरीर के चित्रोंको अपने में समेट लो।" इस प्रार्थना का चमत्कारिक प्रभाव हुआ और प्रकाश-किरणें अदृश्य हो गईं।

और सब प्रकार की अति या चरमावस्था को वह बराबर टालता रहा है। वह दीर्घकाल से साधना कर रहा है और आत्मसंयम का पालन अव्यभिचारी रूप से करता आ रहा है। ध्यान-धारणा के परे जो है उसे ध्यान-धारणा से ही प्राप्त करने का उसका अटल निश्चय था। उसने बताया कि नैतिक समझी जाने वाली जीवन-प्रणाली का पालन वह ठीक ढंग से करता आया है, लेकिन वह कोई बहुत बड़ी बात नहीं है। उसने यह भी कहा कि सामान्य लोग जो बातें चाहते हैं, उनका मुझे आकर्षण नहीं है। इस भौतिकता का खेल एक बार खेल चुका हूँ। लेकिन कुछ वर्षों पहले वह खेल खतम हो गया। वह एक छोटा-सा व्यवसाय कर रहा है, वह भी आनुषांगिक रूप में।

ध्यान-धारणा का वास्तविक लक्ष्य और कुछ न होकर स्वयं ध्यानमयता ही है। ध्यान से परे की बातों का ध्यान के द्वारा शोध करना साध्य के पीछे लगने जैसी बात है; पर जो उपलब्ध किया जा सकता है, वह नष्ट भी हो सकता है। विशिष्ट साध्य के पीछे लगने का अर्थ है अहं-विसर्पित बात का ही सातत्य जारी रखना। अन्तिम परिणति अथवा साध्य कितनी ही उच्च कोटि का हो, अन्ततः वह हमारी अभिलाषा के द्वारा ही निर्मित होता है। विशिष्ट स्थान पर पहुंचने के लिए, विशिष्ट साध्य का शोध करने के लिए अथवा उसे प्राप्त करने के साधन के रूप में ध्यान का उपयोग करने से ध्यान करने वाले को, ध्याता का, अहं को ही अधिक बल प्राप्त होता है। वस्तुतः ध्याता और ध्यान एक ही हैं, अभिन्न है। ध्याता के स्वरूप को समझ लेना ही ध्यान है।

"लेकिन मैं तो अन्तिम सत्य की प्राप्ति के लिए या उसका दर्शन पाने के लिए ध्यान करता हूँ। मुझे कोई विशिष्ट साध्य प्राप्त नहीं करना है। मैं तो कभी-कभी मिलने वाली परमानन्द की हल्की-सी झाँकी पाना चाहता हूँ। मुझमें निश्चय ही यह अभिलाषा है। जैसे प्यासे आदमी को पानी की प्यास लगती है, वैसे ही उस अवर्णनीय परमानन्द-प्राप्ति की मुझे अनिवार्य प्यास लगी हुई है। यह परमानन्द अन्य किसी भी आनन्द से अनन्तगुना श्रेष्ठ है और उसे अपने अन्तःकरण की उत्कट आशा मानकर मैं उसके पीछे पड़ा हूँ।"

इसका सीधा स्पष्ट अर्थ यह है कि आप इसीलिए ध्यान करते हैं कि आपको वह प्राप्त हो, जो आप चाहते हैं। अपने इस ईप्सित के लिए आप विशिष्ट अनुशासन स्वीकार करते हैं, विशिष्ट यम-नियमों का पालन करते हैं। उसके लिए एक कार्यक्रम बनाकर आप उस मार्ग का अनुसरण कर रहे हैं। ऐसा करते हुए अपने न्यूनाधिक प्रयत्न से हमें कोई निश्चित प्रकार की स्थिति प्राप्त होगी और उत्तरोत्तर अधिकाधिक आनन्द की प्राप्ति होती रहेगी, ऐसी आपको आशा है। यह सारा कार्यक्रम एक पूर्वनियोजित प्रबन्ध है। और इसी कारण आपको इस बात का

विश्वास है कि इस प्रकार आपको अपना अन्तिम ईप्सित मिल जायगा। इससे स्पष्ट है कि आपकी ध्यान-साधना परिणाम के पहले ही पूरा अनुमान लगाकर बनायी हुई प्रक्रिया है। है या नहीं ?

"आप जिस ढङ्ग से यह चीज रख रहे हैं, उसके अनुसार तो ऊपर-ऊपर से देखने पर, यह पागलपन दीखता है। लेकिन गहराई से विचार करने पर, मेरी समझ में नहीं आता कि इसमें क्या गलती है ? परमानन्द के पीछे लगने में कौन-सी गलती है ? मैं मानता हूं कि मैं अपने अब तक के प्रयत्नों का फल चाहता हूं। लेकिन इसमें गलती कहां है?'

परमानन्द-प्राप्ति की आपकी अभिलाषा का अर्थ यह है कि आपकी भावना यह है कि यह परमानन्द अक्षय और शाश्वत स्वरूप का है। है न ? आपने अब तक जो-जो साध्य हस्तगत किये, वे सब असमाधानकारक थे, अनेक सांसारिक ईप्सितों के पीछे पड़े, लेकिन उनका क्षणभंगुर स्वरूप आपके ध्यान में आ गया, इसीलिए अब उस अक्षय और शाश्वत स्थिति के, उस अनन्त स्थिति के आप इच्छुक हैं—क्या यही आपकी अभिलाषा का अर्थ नहीं है ? आपका मन अब अन्तिम और अविनाशी आत्मस्थान खोज रहा है और इसीलिए वह अपने को विशिष्ट अनुशासन से बाँध रहा है और जो चाहिए, उसकी प्राप्ति के लिए विशिष्ट सद्गुणों का संवर्धन कर रहा है। सम्भव है कि इस मन को किसी समय उस परमानन्द का आस्वाद भी मिला होगा, इसीलिए उसे पुनः प्राप्त करने के लिए उसका प्रयत्न चल रहा हो। ईप्सित के पीछे लगने वाले अन्य व्यक्तियों की भाँति आप भी अपना ईप्सित प्राप्त करने के पीछे पड़े हैं। अन्तर इतना ही है कि आपका ईप्सित एक भिन्न स्तर का है। आप कहेंगे कि 'मेरे ईप्सित का स्तर बहुत ऊँचा है,' लेकिन यह बात मूल मुद्दे से असम्बद्ध है। परिणाम का अर्थ होता है एक परिणामाप्ति। एक साध्य तक पहुंचने का अर्थ है, किसी अन्य साध्य के लिए प्रयत्न आरम्भ करना। हमारा मन कभी चुप नहीं बैठता। वह अखण्ड दौड़धूप करता रहता है। वह सतत कुछ-न-कुछ प्राप्त करता रहता है और यह प्राप्त वस्तु कहीं नष्ट तो नहीं हो जायगी, इस भय से व्याकुल रहता है। इस सारी प्रक्रिया को ही ध्यान का सुन्दर नाम दिया जाता है। कुछ विशिष्ट होने के चक्कर में जो मन सतत अटका रहता है, उसे क्या कभी परमानन्द का दर्शन हो सकता है ? जिस मन ने अपने ऊपर विशिष्ट अनुशासन का बन्धन लाद लिया है, वह मन परमानन्द के स्वागत के लिए कभी मुक्त रह सकता है ? प्रयत्न और दौड़धूप द्वारा, प्रतीकार और त्याग द्वारा मन अपने को संवेदनशून्य बना डालता है। ऐसे मन को शुद्ध नित्यनूतन के स्पर्श के लिए आवश्यक विमुक्तता और तरल संवेदनशीलता कैसे प्राप्त होगी ? परमानन्द की अभिलाषा से क्या आपने अपने चारों ओर एक परकोटा ही खड़ा नहीं कर लिया है ? तब, क्या उस अज्ञात और अनिर्वचनीय

का प्रवेश इस परकोटे को भेदकर आपके पास तक होना सम्भव है ? अपने को हठतापूर्वक बन्द करके आपने उस नवीन को पुराने को क्या अवसर ही नहीं कर दिया है ? पुरातन के अवगुण्ठन में से ही आपने नवीन के लिए मार्ग प्रशस्त किया है, तो क्या पुरातन में इस नूतन का समावेश सम्भव है ?

मन के लिए नवीन का निर्माण करना सम्भव ही नहीं। कारण, मन ही किसी का परिणाम, परिपाक होता है और सब प्रकार के परिणाम पुरातन से ही निर्मित होते हैं। परिणाम कभी भी नूतन नहीं हो सकते। विशिष्ट परिणाम को मूर्तिमान करने के पीछे लगने से कभी भी स्वयं स्फूर्त कृति नहीं हो सकती। जो विमुक्त होता है, वह साध्य के पीछे कभी नहीं लगता। आदर्श अथवा साध्य सदैव ही मन का विक्षेप होता है। निश्चय ही वह ध्यान नहीं हो सकता। ध्याता को विमुक्तावस्था में ले जाना ही वास्तविक ध्यान है। इस विमुक्तावस्था में नवीन का बोध लग सकता है। नवीन को ग्रहण करने की तरल संवेदन-क्षमता मुक्तावस्था में ही सम्भव है। मुक्त हुए बिना परमानन्द सम्भव ही नहीं। लेकिन साधना अथवा अनुशासन की सहायता से मुक्ति कभी अस्तित्व में नहीं आती। अनुशासन विमुक्तता का एक ढांचा खड़ा कर सकता है। लेकिन वह मुक्ति नहीं है, मुक्ति के उदय के लिए तो सारे ढाँचों को तोड़ देना होगा इन साँचों का भङ्ग करते रहना ही ध्यान है। लेकिन ढाँचों का विनाश भी कोई आदर्श अथवा साध्य नहीं है। ये साँचे क्षण-क्षण पर भङ्ग होते जाने चाहिए। भङ्ग होने वाला क्षण विस्मृत क्षण है। स्मृति में रहने वाला क्षण इस साँचे को आकार देता है। इसी स्मृतिबद्ध क्षण में वह साँचा उत्पन्न करने वाला, सब प्रकार की समस्या, संघर्ष और दुःख उत्पन्न करने वाला अहं अस्तित्व में आता है।

सब स्तरों पर चलते रहने वाले अपने विचारों से मन को मुक्त रखना ही ध्यान है। विचार ही विचारक को जन्म देता है। वस्तुतः विचारक विचार से भिन्न नहीं होता, विचार-प्रक्रिया और विचारक की विचार-प्रक्रिया ये दोनों भिन्न प्रक्रियायें नहीं हैं, यह एक ही एकात्मक प्रक्रिया है। इन दोनों को भिन्न प्रक्रिया मानने से अज्ञान और भ्रम उत्पन्न होता है। ध्याता ही ध्यान है। इस ध्यानावस्था में मन एकाकी होता है, एकाकी किया नहीं जाता। वह निस्तब्ध होता है, निस्तब्ध किया नहीं जाता। केवल एकाकी के ही निकट उस कारणातीत का उदय होता है। केवल एकाकी को ही परमानन्द का स्पर्श होता है।

—●●—

* 'बीते हुए की चिन्ता न करो, जो अब करना है, उसे विचारो और विचारो यही कि बाकी का सारा जीवन केवल उस परमात्मा के ही नाम काम में आवे।'

—स्व श्री हनुमानप्रसाद पोद्दार

योगाभ्यासी के लिए धारणा

श्री स्वामी अभयानन्द

योग का अभ्यास करने वाले मनुष्य के सामने कई प्रकार की परीक्षाएं अथवा विघ्न आते हैं। अगर मनुष्य को निम्नलिखित बातोंमें निश्चय हो अथवा यदि निम्नलिखित धारणाएँ उसके जीवन में हों तो उसे योग में अच्छी स्थिति प्राप्त हो सकती है—

१. पवित्रता, शान्ति और परमात्मा ही सच्चे आश्रय हैं—

आज कोई मनुष्य स्वयं को हिन्दू, कोई मुसलमान, कोई ईसाई और कोई अन्य किसी धर्म को मानता है, परन्तु योगी तो 'पवित्रता और शान्ति' को ही अपना स्वधर्म निश्चय करता है अथवा वह आदि सनातन 'देवी-देवता धर्म' का ही अपना धर्म मानकर पवित्र शान्त और दैवी गुण-सम्पन्न बनने का पुरुषार्थ करता है।

ज्ञान-रहित भक्त मनुष्य तो अपने शास्त्र, गुरु, कर्म-काण्ड इत्यादि को ही कल्याणकारी समझकर उनमें लगा रहता है। परन्तु जो योग का अभ्यास करना चाहता है वह केवल परम पिता परमात्मा ही को कल्याणकारी मानकर, उनमें ही अपना मन लगाता है; उसे कर्म-काण्ड आदि भी धोखे लगते हैं। वह इन सब आधारों को छोड़कर एक परमपिता परमात्मा ही का आश्रय लेता है और सच्चे हृदय से उन्हीं की शरण में जाता है। वह लौकिक गुरुओं और पोथियों के भरोसे पर नहीं चलता बल्कि निराकार परमात्मा ही के एक बल, एक भरोसे पर चलता है; क्योंकि वह समझ जाता है कि काम, क्रोध इत्यादि बली विकारों पर विजय प्राप्त कराने का बल केवल एक सर्व शक्तिमान् परमात्मा में ही है, अन्य किसी में नहीं। उनका मन अन्य सबसे हट जाता है और अत्यन्त स्नेह से एक परमपिता परमात्मा से जुट जाता है अथवा जुटना चाहता है। वह मत-मत और गुरु-मत इत्यादि की भेंट में एक निराकार परमपिता ही के मत को सर्वश्रेष्ठ निश्चय करता है और संसार के लोग चाहे उसे कितना भी रोकते और टोकते रहें, वह मस्त-कलन्दर की तरह प्रभु ही का हो जाता है।

मनुष्य की इसी वृत्ति को ही "सर्वोत्तम संन्यास वृत्ति" कहते हैं, क्योंकि भगवे कपड़े वाले संन्यासी तो केवल घर-बार और वस्त्रों ही का संन्यास करते हैं किन्तु थोथी पंडिताई से उनका मोह नहीं टूटता, परन्तु सच्चा संन्यासी तो मित्र-सम्बन्धियों के बीच रहते हुए भी 'ममता' का संन्यास करता है और उनका मन और कहीं न जाकर एकमात्र परमात्मा ही की ओर जाता है। गृहस्थ में रहते हुए योगाभ्यास करने के लिए ऐसी ही वृत्ति अथवा ऐसा ही संन्यास होना जरूरी है।

२. परमात्मा की सतयुगी रचना सुख-दायी होती है—

मिथ्या-ज्ञानी मनुष्य यह मानता है कि सुख और दुःख दोनों परमात्मा ही देते हैं,

परन्तु योगी सदा इसी निश्चय में रहता है कि परमात्मा तो कल्याणकारी है, जो सुखदाता और शान्तिदाता है, वह तो दुःख-भंजक है, वह किसी को भी दुःख नहीं देते। दुःख तो माया अथवा मनुष्य के अपने किये हुए पापों ही का परिणाम है। परमात्मा तो मुक्ति और जीवन्मुक्ति के दाता हैं, यही तो सद्गतिदाता है। यह जो दुःख, दरिद्र और दुर्गति की दुनिया है इसके रचयिता परमपिता परमात्मा नहीं हैं बल्कि वे तो सम्पूर्ण सुख और शान्ति वाली सतयुगी और त्रेतायुगी दुनिया के रचयिता हैं, जिसे 'स्वर्ग' 'जीवन्मुक्त दुनिया' अथवा 'वैकुण्ठ' कहते हैं। परमात्मा तो मनुष्यात्मा को दुःखी दुनिया से दूर मुक्तिधाम में जहाँ से मनुष्यात्माएँ यहाँ आई हैं, वापस ले जाते हैं। अतः अज्ञानी मनुष्य जिन परिस्थितियों में भगवान् को भी बुरा-भला कहता है और उस पर दोष धरता है, योगी उन परिस्थितियों में निस्संकल्प रहता है और परमआत्मा को और मुक्तिधाम तथा जीवन्मुक्तिधाम को अधिक ही याद करता है क्योंकि उसका यह अटूट निश्चय होता है कि सभी संकट अपने ही विकर्मों के कारण सामने आते हैं और परमात्मा तो संकट-मोचन हैं। अतः वह खूब दिल से परमपिता परमात्मा से प्यार करता है, कारण कि वह जानता है कि वही तो इनसे छुड़ाने वाले हैं और वही तो मुक्तिधाम और जीवन्मुक्तिधाम में चलने वाले हैं।

३. भावी अथवा नियति में निश्चय—

अज्ञानी मनुष्य छोटी-सी आपदा आने पर अथवा कुछ भी विपरीत परिस्थिति होने पर घबरा जाता है, दुःखी होने लग जाता है और अपने शांति रूपी स्वधर्म को छोड़ देता है, परन्तु योगी का यह निश्चय दृढ़ रहता है कि हमें कर्म ही करना चाहिए, उसके फल के लिये आकुल-व्याकुल नहीं होना चाहिए। योगी जानता और मानता है कि भावी बनी हुई है अथवा इस सृष्टि रूपी विराट् नाटक की एक नियति (Pre-ordained Plan) है, उसके अनुसार ही सब कुछ हो रहा है। अतः चिन्ता करना, व्याकुल होना या दुःखी होना मूर्खता है। वह जानता है कि परमात्मा ही की याद में रहने से बिगड़ी भी सँवर जाती है अथवा सहन करने की शक्ति मिलती है। अतः वह व्यथित न होकर योग-युक्त होता है। वह 'हाय-हाय' न करके 'हरि-हरि' करता है, वह 'मरा-मरा' न बोलकर 'राम-राम' की स्मृति में रहता है। वह सृष्टि के आदि-मध्य-अन्त के राज को समझने के कारण नाराज (ना-राज) नहीं होता। जो मनुष्य भावी अथवा नियति (Per determined or Fer-ordained Plan of this Drama) में निश्चय नहीं करता, उसकी अवस्था अडोल नहीं हो सकती। उसकी समाधि सहज और सुदृढ़ नहीं हो सकती, उसका योग अटूट और अखण्ड अथवा निरन्तर निर्विघ्न नहीं हो सकता। संसार के कलह क्लेश अथवा हानि-लाभ, निन्दा-स्तुति उसी के लिए विशेषता का रूप धारण करते हैं जो इस संसार की विधि-विधान को अथवा

इसकी भावी और नियति को नहीं जानता। वरना जो 'भावी' में निश्चय रखता है, वह एक-रस अवस्था में रहता है। उसका मन योग के सिंहासन से कभी नीचे नहीं उतरता, उसकी निष्ठा कभी भंग नहीं होती। बल्कि उसका मन परमात्मा पर एक-टक हो जाता है और हुआ ही रहता है।

४. परिवर्तन और परिणाम—

योगी जीवन का आनन्द चाहने वाले मनुष्य का यह निश्चय भी अटूट रहना चाहिए कि इस संसार की सभी चीजें नश्वर हैं और यहाँ के सभी पदार्थ परिवर्तनीय हैं। अज्ञानी मनुष्य इस बात को भूल जाता है अथवा वह इस बात को व्यवहार में नहीं लाता। इसलिए जब उसका कोई संबन्धी शरीर छोड़ता है तो वह रोने लगता है, जब कुछ धन की हानि होती है तो वह उदास हो जाता है। वह यह याद नहीं रखता कि परिवर्तन तो इस संसार के पत्ते पत्ते पर लिखा हुआ है। परिणाम अथवा विनाश तो इस लोक के कण-कण में अन्तर्हित है। इसका नाम ही 'संसार' अर्थात् 'चलने वाला' अथवा 'जगत्' अर्थात् 'गति वाला' है। यहाँ कोई भी चीज वैसी की वैसी नहीं रहती है बल्कि सब कुछ बदलता जा रहा है। जो मनुष्य योगी होता है वह इस बात को याद रखता है और इसलिए हानि-लाभ अथवा निन्दा-स्तुति की परिस्थिति में एक-समान रहता है, क्योंकि उसका यह निश्चय होता है कि यह परिस्थिति भी परिवर्तन के चक्कर में आयेगी ही, यह भी रहनी नहीं है। वह संसार को परिणामी और क्षण-भंगुर मानकर अपने मन को अपरिवर्तनीय तथा एक-रस परमपिता परमात्मा ही में टिकाकर स्थायी सुख लेने का पुरुषार्थ करता है। वह समय को व्यर्थ नहीं खोता, क्योंकि वह जानता है कि इसका शरीर भी परिवर्तनशील और परिणामी ही है और किसी भी समय उसका अन्त हो सकता है। अतः वह शरीरान्त से पहले प्रभु का प्यार, परमात्मा का प्रेम अथवा उससे पवित्रता का नाम उठाते रहनेकी धुनमें लगा रहता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि योगाभ्यास में निश्चय का बड़ा महत्व है। कहावत है कि मनुष्य का जैसा निश्चय (Faith) हो वैसा ही उसका रूप (Form) होता है। निश्चय-भेद होने के कारण ही मनुष्य-मनुष्यमें अथवा देवता और देवता में भेद हो जाता है। इसलिए गीता में भगवान् के महावाक्य हैं कि मनुष्य का जैसा निश्चय हो, वैसा ही वह स्वयं होता है। अतः ऊपर जो रहस्य स्पष्ट किये गये हैं, उन्हें उनके अनुसार मनुष्य इसी निश्चय में स्थित होता है कि—मैं तो आत्मा हूँ, त्रिलोकीनाथ, सर्व शक्तिमान् ज्ञान के सागर, शान्ति के सागर, आनन्द के सागर, प्रेम सागर, परमपिता परमात्मा की सन्तान हूँ। पवित्रता और शान्ति ही मेरा स्वधर्म है अथवा दैवी-देवता धर्म अथवा दिव्य-गुणों की धारणा मेरा धर्म (कर्तव्य) है और यह

श्री हनुमान का योगनिष्ठ व्यक्तित्व

❀ श्री डी० आर० अवस्थी

मनुष्य के रूप में अवतरित एवं दैवी सम्पदाओं से परिपूर्ण महापुरुषों के चरित्रों के मानवीय आचरणोंका अध्ययन, मनन, चिंतन एवं तद्वत् आचरण हमारे लिए बड़ा लाभदायक सिद्ध होता है। वाल्मीकीय रामायण में आदिकवि महर्षि वाल्मीकि ने स्पष्ट लिखा है कि 'भगवान् विष्णु के रामरूप में इस धराधाम पर अवतरित होनेके साथ ही अनेक देवताओं—दैवी शक्तियों ने उनकी सहायता के लिए भूलोक में अवतार धारण किया।' सबके पालक विष्णु जब मानव बने-नारायण से नर होकर पृथ्वी पर अवतरित हुए, तब अवश्य ही जो असीम था, वही स्वयं सीमित हो उठा। सीमित होने के कारण विष्णु के अवतार श्रीराम ने प्रायः सर्वत्र मनुष्यवत् आचरण किया और अपने समस्त जीवन में उन्होंने जिस प्रकार के कार्य किये, वे आज के इस युग में भी उतने ही अनुकरणीय और व्यावहारिक बने हुए हैं, जितने उस परम पुरातन युग में थे, जिसमें श्रीराम, वाल्मीकि और हनुमान साथ ही साथ विद्यमान थे।

हनुमानजी का आदिवृत्त और उनकी विद्वत्ता

हनुमानजी के पिता का नाम केसरी था। उनकी जननी थी महासती अञ्जना। केसरी और अञ्जना कितने सफल पिता-माता थे। इसकी पूर्ण कल्पना आपको तभी हो सकती है, जब भारतवर्ष भर में व्याप्त हनुमत्पूजा से आप परिचित हों। यद्यपि वाल्मीकीय रामायण श्रीरामचरित है, हनुमच्चरित नहीं, पर हनुमच्चरित भी उसका परम अविभाज्य अंग है। फिर भी उसके अनुसार यह सिद्ध होता है कि केसरी और अञ्जना ने अपने इस एकमात्र सत्पुत्र की शिक्षा-दीक्षा का समुचित प्रबन्ध किया था। हनुमान अपने युग के विद्वानों के शिरोमणियों में से एक थे। संपूर्ण ऋग्वेद के ज्ञान-विज्ञान पर उनका पूर्ण अधिकार था। यजुर्वेद के कर्म-विज्ञान के दुरूह रहस्यों के वे पूर्ण ज्ञाता थे। सामवेद के उपासना-विज्ञानके वे एक तत्वज्ञ मनीषी थे। चारों वेदों के ज्ञान, कर्म और उपासना के तीनों धर्म-मार्गों के वेत्ता हनुमान जितने विद्वान् थे, उतने ही आचरण-सम्पन्न भी थे। उनकी विद्वत्ता उनके संपूर्ण आचरण में उतरी हुई थी। उनकी कथनी और करनी में कोई अन्तर नहीं था। वे कोरे उपदेशक ही नहीं थे, बल्कि उनका सारा सदाचार उनके नित्य के कार्यों में प्रतिबिम्बित होता था। परमात्मा के मुख से उत्पन्न हुए ब्राह्मणत्व के वे तपोबल थे, उनके बाहुओं से उद्भूत होने वाले क्षत्रियत्व के वे वीर्य-बल थे, उनके जंघास्थलों से उत्पन्न होने वाले वैश्यत्व के वे पोषक-बल थे और उन्हीं के चरणों से प्रसूत शूद्रत्व के सेवा-बल थे। इस प्रकार हमारे हनुमान वैदिक वर्ण-व्यवस्था के साकार प्रतिरूप थे। वे संसारभर के ज्ञान, वीर्य, पोषण और कर्म-बल का प्रतिनिधित्व एक साथ करते थे और

उनका सारा धर्माचरण उनके कार्योंमें प्रविष्ट था। ऐसे ही धर्म-धुरंधरों के लिए तो तुलसीदासजी ने ये शब्द कहे हैं—'जे आचरहिं ते नर न घनेरे।" भगवान् श्रीराम से जब हनुमान पहले-पहल मिले, तब उनकी बातचीत से भगवान् अत्यन्त प्रभावित हुए। उन्होंने लक्ष्मण से भूरि-भूरि सराहना की। हनुमानकी विद्वत्ता और उनकी प्रभावशालिनी वाक्-शक्ति की प्रशंसा जिनके द्वारा की गई है, उनके लिए स्वयं वाल्मीकि लिख गये हैं—'रामो द्विर्नाभिभाषते।'—'श्रीराम दो प्रकार की बातें नहीं कहते।' श्रीराम के इस कथन में किसी प्रकार की अतिशयोक्ति नहीं खोजी जा सकती।

मन, कर्म और वाणी की एकता

हनुमानजी स्वयं महामनस्वी व्यक्ति थे। उनका मन जितना पवित्र और सबल था, उतने ही उनके कर्म भी पवित्र और सबल थे। उनका मन और उनके कर्म जिस प्रकार पवित्र और सबल थे, उसी प्रकार उनकी वाणी नितान्त निष्कपट, यथार्थ और ओजस्विनी थी। इस प्रकार शुद्ध मन, शुद्ध कर्म और शुद्ध वाक्बल वाले श्रीहनुमान सदैव सत्य के ही पक्षधर बने रहे और उसी सत्य में एकाकार होकर वे उसके लिए प्रत्येक संकट झेलने को तत्पर रहते थे। इसके प्रमाण के लिए वाल्मीकीय रामायण का महान् आधार हमारे सम्मुख आज भी विद्यमान है।

श्रीहनुमान आजके युगके लोगों की भाँति उगते सूर्य के पुजारी नहीं थे। उनको वाली के बल, प्रताप, ऐश्वर्य और राज्य से कोई प्रयोजन न था। वे उन सुग्रीव के साथ थे, जिनके पक्ष में सत्य को छोड़कर और कुछ था ही नहीं। श्रीहनुमान में ऐसी क्षमता थी कि वे धर्म और सत्य के पक्ष का तथा अधर्म और असत्य के पक्ष का अन्तर तुरन्त समझ लेते थे और तत्क्षण ऐसा निर्णय करते थे, जो स्थायी होता था। संसार का कोई भी प्रलोभन उन्हें उससे डिगा नहीं सकता था। अपनी महती प्रज्ञा के द्वारा उन्होंने श्रीराम के उस सत्य मार्ग की महत्ता पहचान ली थी, जिसके लिए वह घोषित हो चुका था—"यतो धर्मस्ततो जयः।"

श्रीराम का पक्षधर होना सहज काम नहीं था। श्रीराम के पक्षमें किसी प्रकारके भौतिक सुखोंकी प्राप्ति सम्भव नहीं थी। उनके पक्षधर के लिए यह अनिवार्य था कि वह सत्य की ओरसे असत्य से सङ्घर्ष करे। वाली और रावण जैसे असत्योन्मुख और सत्ता-सम्पन्न विपक्षियों का विरोध झेलना कोई सरल कार्य नहीं था। यह विरोध श्रीहनुमान पर न तो सुग्रीवके द्वारा लादा गया था और न श्रीराम के ही द्वारा वह उन पर मढ़ा गया था। यह उनके स्वयं के तत्व-चिंतन का परिणाम था। एक सत्याग्रही स्वयं-सेवक की भाँति उन्होंने स्वयं ही इस विरोध का वरण किया था। इसीलिये वे जीवन-भर सुग्रीव के सचिव और श्रीराम की सेनाके स्वयं-सेवक बने रहे। श्रीरामकी महती कृपा प्राप्त करके भी उन्होंने सदैव सुग्रीवको ही अपना नेता और अधिपति

माना, यह उनकी एक बड़ी विशेषता थी। श्रीराम और सुग्रीव को जीवन-भर के लिए एक करने में हनुमानने अपनी जिस विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया था, उसी विलक्षण शक्ति का सतत् परिचय देते हुए वे सुग्रीव के सचिव और श्रीराम के सेवक बने रहे।

श्रीहनुमान का सत्यार्पित जीवन

श्रीहनुमान ने अपना सारा जीवन सत्य को समर्पित कर रखा था। सत्य के लिए समर्पित होकर उन्होंने अपने-आपको श्रीराम कार्यमय बना डाला था। विषम परिस्थितियों में भी उन्होंने भ्रष्टाचार के सम्मुख घुटने नहीं टेके। उन्होंने उस समय अपने राज्य के युवराज अङ्गद को भी धीरज बँधाया, जब वे मृत्यु से डरकर अपने कर्तव्य-धर्म से च्युत होने जा रहे थे। जब श्रीहनुमान समुद्र पार करने के हेतु वानरों से विदा होने लगे, वह समय भी बड़ा विषम था। न जाने कौनसी विपत्ति उनके सामने आ जाय! समुद्र में प्रविष्ट होना मृत्यु के मुखमें ही प्रविष्ट होना तो था। फिर समुद्र के उस पार एकाकी हनुमान के सामने शत्रुओं का यह भयंकर साम्राज्य था, जिसकी तुलना में संसार की सभी भीषणताएँ फीकी हो जाती थीं। यदि हम अपने-आपको श्रीहनुमान के स्थान पर रखकर परिस्थिति का विवेचन करें, तभी हम यह समझ पायेंगे कि श्रीहनुमान में कितनी अधिक सत्यनिष्ठा थी, उनमें कैसा ज्वलन्त शौर्य था और कितना निर्भीक था उनका स्वभाव! कितना साहस था उनमें!

महाविपत्ति का साक्षात्कार

महाविपत्ति साकार हो उठी! श्रीहनुमान शत्रुपक्ष के बन्दी हो गये। उन्हें अपमानपूर्वक मारा-पीटा गया। तिरस्कारपूर्वक बाँधकर नगर की सड़कों पर पैदल चलाकर उन्हें राज-दरबार में उस सम्राट के सम्मुख उपस्थित किया गया, जिसके आतंक से उस युग की धरती त्राहि-त्राहि कर रही थी। ऐसे सम्राट के सम्मुख बन्दी होकर जानेकी कल्पना अपने लिए कीजिए और तब सोचिये कि श्रीहनुमान कितने साहसी, निर्भीक और श्रीरामार्पित—सत्यार्पित थे।

सम्राट की ओर से लङ्का के साम्राज्य के प्रहस्त ने जब उनका परिचय जानना चाहा, तब मृत्युके मुखमें खड़े होते हुए भी बन्धनबद्ध हनुमान ने जैसा ओजस्वी वक्तव्य दिया, उसकी प्रशंसा करते हुए वाल्मीकि कहते हैं कि 'उनके उस वक्तव्य का प्रत्येक शब्द सार्थक था और केवल एक ही अर्थ देने वाला था।' श्रीहनुमान की वह वक्तृता वाल्मीकीय रामायण के सुन्दरकाण्ड में विस्तार से है, अतः स्थानाभाव के कारण यहाँ उसे नहीं दिया जा रहा है।

सार्थक और एकार्थक शब्द भी हृदय की भाषा में बोले जायँ तो उनका अधिक प्रभाव पड़ता है। पर हृदय की भाषामें बोलने वाले विरले ही महापुरुष होते हैं। श्रीहनुमान ऐसे ही महापुरुष थे। श्रीहनुमान का आशीर्वाद पाकर जब श्रीविवेकानन्द हृदय की भाषा में अमेरिका की धर्म-सभा में यों बोले—'बहनो

और भाइयो !' तब वहाँ बैठे हुए सभी लोग उनके भाई-बहन बन गये। श्रीहनुमान को पूजने वाले लोकमान्य श्रीतिलक जब हृदयकी भाषा में सरज कर गोरे अंग्रेजों के समूह में बोले—'स्वराज्य मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है।' तब तत्क्षण स्वराज्य की आधार-शिला गढ़ी जाने लगी।

श्रीहनुमान की उस सार्थक और केवल एकार्थक शब्दों वाली तथा अपने अन्तः भावों को व्यक्त करने वाली वक्तृता का क्या प्रभाव पड़ा, वाल्मीकीय रामायण में स्पष्ट वर्णित है। उस विलक्षण प्रभावशाली वक्तृता का प्रभाव यह पड़ा कि लङ्काकी प्रजा का बहुमत श्रीराम के पक्ष में हो गया। वहाँ के सम्राट की पत्नी श्रीराम के पक्ष में हो गई, उसका भाई श्रीराम के पक्ष में हो गया और उसका नाना भी श्रीराम के पक्ष में हो गया। उसके मन्त्रिमण्डल के अनेक प्रभावशाली सदस्य भी अपने पक्षको अपराधी समझने लगे और स्वयं रावण भी मन-ही-मन अपनेको दोषी समझने लगा। वाल्मीकीय रामायण से यह भी ज्ञात होता है कि श्रीहनुमान की उस वक्तृता के प्रभाव के कारण ही रावण की सेना का और उसके साम्राज्यकी जनता का मनोबल इतना गिरा कि उनकी पराजय अवश्यम्भावी हो गई। लङ्का के साम्राज्य के सारे अङ्गों के मनोबल को गिराने के कार्य में श्रीहनुमान के व्यक्तित्व और उनके वक्तृत्व ने जो भूमिका निबाही है, उसका मन की आँखों से सम्यक् प्रत्यक्षीकरण आवश्यक है।

श्री हनुमान के व्यक्तित्व को पहचानने के लिए यह भी आवश्यक है कि हम उनके चरित्र की मानवी भूमिका के महत्व को समझें। यदि हम यह विश्वास करते हों कि श्रीराम के रूप में स्वयं भगवान् विष्णु और मरुत्पुत्र के रूप में स्वयं शिव अवतरित हुए थे, तब भी हमको यह समझना चाहिए कि दैवी शक्तियाँ दो उद्देश्यों से अवतरित होती है। इन उद्देश्यों की सूचना गीता द्वारा हमें आज भी प्राप्त होती है। इन दोनों उद्देश्यों में पहला उद्देश्य है—'धर्म संस्थापन' और दूसरा उद्देश्य है—'दुष्ट संहार।' इनमें भी ध्यान देने की बात यह है कि दुष्ट संहार को पहला स्थान प्राप्त नहीं है; पहला स्थान धर्म-संस्थापन को दिया गया है। धर्म-संस्थापन के लिए जब भगवान् और देवता मनुष्य-समाज में अवतरित होते हैं, तब ठीक वैसा ही आचरण करते हैं, जो धर्मानुकूल और मनुष्यों जैसा ही हो। भगवान् श्रीराम और रामसेवक हनुमान यावज्जीवन संहार कर्म में ही व्यस्त नहीं रहे, वे समाज के धर्मसंस्थापन के कार्य में अग्रणी बनकर जीवन भर उसका नेतृत्व करते रहे और जब अत्यन्त आवश्यक हो गया, तभी उन्होंने शस्त्रास्त्रों का उपयोग किया। इसलिए यह आवश्यक है कि हम हनुमच्चरित्र की मानवीय भूमिका को अपने जीवन में उतारें और युग-युग में व्याप्त धर्म-संस्थापन के कार्य में उनके सहयोगी बनें।

सुख और शान्ति

❀ श्री डा० मुन्शीराम शर्मा

अनादि-निधना निरवा वाणी सर्ग के प्रारम्भ में आकाश के साथ ही उत्पन्न होती है। इस वाणी का मूल रूप 'ओ३म्' है जिसे प्रणव और अक्षर भी कहा जाता है। ओ३म् अव्यय होता हुआ भी त्रिमात्रिक है। अ, उ, म् तीनों से एक ओर समस्त वर्णमाला की सृष्टि होती है, जो वाङ्मय के रूप में विस्तार पाती है, तो दूसरी ओर उससे जगत के आविर्भाव, स्थिति और तिरोभाव का भी ज्ञान होता है। भूर्भुवःस्वः नाम की तीन महाव्याहृतियां क्रमशः अ, उ, और म् की ही प्रतिरूप हैं। त्रिलोकी के भूलोक, भुवर्लोक और स्वर्लोक प्राकृतिक जगत के तीन भाग हैं, तो आध्यात्मिक जगत में भी इन्हीं के समानान्तर तीन धाम हैं, जो अज्ञान और राग-द्वेष से हटकर आनन्द की स्थिति तक का निर्देश करते हैं। इन्हीं के साथ प्रकाश का भी सम्बन्ध है जो महर्षि यास्क के शब्दों में अग्नि, विद्युत और सूर्य का वाचक है। निखिल ब्रह्माण्ड का संक्षिप्त रूप शरीर है। इसमें भी हमें इसी त्रिलोकी के दर्शन होते हैं, बाह्योन्मुख इन्द्रियों का प्रसार एक लोक है। अन्तर्मुख अन्तःकरण अथवा मन दूसरा लोक है और बुद्धि के साथ आनन्दमय कोष तीसरा लोक है। मानवमात्र का कर्तव्य इन्हीं तीनों लोकों की स्थिति को सम्हालना है।

बाह्योन्मुख इन्द्रियों का प्रसार सुख की कामना करता है। साधारणतः हमें भूख-प्यास लगती है, जिससे हम व्याकुल हो जाते हैं और उस व्याकुलता को दूर करने के लिए अन्न और जल को ग्रहण करने का यत्न करते हैं। शरीर के क्षीण होते हुए अवयव इनके द्वारा पुनः स्वस्थ हो जाते हैं। अन्न और जल के साथ निद्रा भी थके हुए शरीर को स्वस्थ बनाने में सहायता करती है। हमारा यह व्यापार जीवन-पर्यन्त चलता रहता है, परन्तु प्रयत्न के उपरान्त भी शरीर का क्षीण होना दूर नहीं होता। बुढ़ापा आकर घेर लेता है और शरीर को जीर्ण-शीर्ण करने लगता है। बुढ़ापे के साथ ही मृत्यु एक दिन आकर शरीर को दबोच लेती है और इन्द्रियों के समस्त व्यापार बन्द हो जाते हैं। कोई कितना ही उपचार करे, अमूल्य औषधियों तथा पुष्टिकारक पदार्थों के सेवन द्वारा भी न वह बुढ़ापे से बच सकता है और न मृत्यु से। तो हम ऐसी परिस्थिति में सुख-प्राप्ति के लिए क्या कर सकते हैं? सुख का अर्थ इन्द्रियों की अच्छी स्थिति है, फिर वे चाहे बाहरी इन्द्रियाँ हों और चाहे आंतरिक। बाह्य इन्द्रियों द्वारा जो सुख भोगे जाते हैं, उनके सम्बन्ध में यदि हमारा दृष्टिकोण भोग्य पदार्थों की ओर न रहकर केवल तृप्ति की ओर रहे, तो भोग-कामना दुःख नहीं दे सकेगी। हलुवा-पूड़ी खाने के समय यदि हमारा ध्यान केवल इसी भाव पर केन्द्रित रहे कि इनके द्वारा मेरी भूख शान्त होती है और मैं काम करने के योग्य बनता हूं, तो भाव-दृष्टि से बाह्य पदार्थ आकर्षक नहीं रहते। उनका सौन्दर्य उनके द्वारा उत्पन्न तृप्ति में है, उनके अपने बाह्य आकार में नहीं। समस्त भोगों के सम्बन्ध में यही कहा जा सकता है।

आन्तरिक इन्द्रियों में मन की प्रधानता है। मानसिक क्लेशों में शोक और भय प्रधान हैं। शोक किसी व्यतीत हुए इष्ट-लाभ का होता है और भय भविष्य में होने वाली किसी हानि का। शोक और भय के सम्बन्ध में क्लेशकारक बात केवल इतनी है कि उनका चिन्तन मन को अपनी ओर खींच लेता है और मन विगत तथा अनागत इष्ट-हानि के साथ अपने को तद्रूप कर लेता है। यदि हम मन के इस दृष्टिकोण को ऐसा परिवर्तित कर दें कि मन उनमें न फँसे, उनके साथ तद्रूप न हो, तो हमें किसी प्रकार का क्लेश नहीं होगा। "मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।" बन्धन और मोक्ष दोनों का ही कारण मन है। यदि वह बाह्य पदार्थों की आसक्ति में तथा उनसे उत्पन्न हानि और लाभ में फँस गया, तो बन्धन और उसका परिणाम दुःख दोनों ही प्राप्त होंगे और यदि मन इनमें न फँसा, केवल अनासक्त भाव से द्रष्टा बना रहा, तो मोक्ष का कारण बनेगा। मन की स्वस्थता ही सुख है, उसका अस्वस्थ होना दुःख है। कभी-कभी हम मिथ्या दुःख और सुख की कल्पना से भी विचलित हो उठते हैं। वास्तविक सुख बाह्य तथा आन्तरिक इन्द्रियों का स्वास्थ्य ही है। प्रचुर धन, अनेक सेवक और प्रभूत पार्थिव सामग्री के होते हुए भी यदि इन्द्रियाँ स्वस्थ नहीं हैं और रोग के कीटाणुओं से आक्रान्त हैं, तो वास्तविक सुख स्वप्न के समान ही है। जो कुछ मैं खाता हूँ, यदि उसे पचा नहीं सकता, जो कुछ मैं पढ़ता हूँ, यदि उसे आत्मसात् नहीं कर सकता, तो वह मेरा खाया हुआ और पढ़ा हुआ दोनों ही व्यर्थ है। इसी प्रकार विपुल भोग-विलास की सामग्री के होते हुए भी यदि मैं उसका उपयोग नहीं कर सकता तो उससे सुख की उपलब्धि कैसे हो सकती है? अतः सच्चा सुख इन्द्रियों के स्वास्थ्य के साथ ही सम्बद्ध है। इन्द्रियों के स्वास्थ्य के साथ उनकी क्षीणता को दूर करने के लिए भोग्य पदार्थों की आवश्यकता है, इसे कोई भी अस्वीकार नहीं कर सकता। इस अवस्था को हमारे यहाँ 'अभ्युदय' की संज्ञा प्रदान की गई है।

सुख के पश्चात् शान्ति आती है। यह इन्द्रिय-जगत् से परे आध्यात्मिक जगत की वस्तु है। परम आत्म-तत्त्व ही परम शान्ति है। वही एकमात्र ऐसी सत्ता है, जिसमें अशान्ति, विक्षोभ और संरम्भ की तरंगें नहीं उठतीं। इन्द्रियों की स्वस्थता में भी मानव तरंगाकुल बना रहता है। तम और रज दोनों गुण उसे सतत् विचलित करते रहते हैं। सत् का सम्पर्क ही उसे शान्ति की झलक दिखाने में समर्थ होता है। यह कार्य सत् के प्रथम विकार शुद्ध-बुद्धि से प्रारम्भ होता है और उसकी पूर्ण प्रतीति आत्मा के अपने स्वरूप में अवस्थित होने पर होती है। आत्मा का अपना यह रूप शिव है, शान्त है, जहाँ समस्त जागतिक प्रपंच उपशम को प्राप्त हो जाते हैं। यजुर्वेद के नीचे लिखे मंत्र में सुख और शान्ति की प्राप्ति के लिए प्रार्थना करता हुआ भक्त प्रभु के आगे प्रणत होता हुआ कहता है—

"ओ३म् नमः शंभवाय च, मयोभवाय च, नमः शंकराय च, मयस्कराय च, नमः शिवाय च, शिवतराय च।"

"प्रभु! आप सुख और शान्ति के उत्पन्न करने वाले हैं, आपको मेरा प्रणाम है। आप ही सुख और शांतिके मूल कारण हैं। आपको मेरा नमस्कार है। आप ही शान्त एवं शिव-रूप हैं। आपसे बढ़कर यहाँ अन्य कोई भी शिव-शान्त-रूप नहीं है। आपको मेरा नमस्कार है।"

मन्त्र में प्रणति के साथ साधक का ध्यान प्रभु के दो गुणों की ओर विशेष रूप से है। वे दो गुण शम्भव और मयोभव हैं। शम् शान्ति का और मयः सुख का नाम है। मंत्र के प्रथम दो चरण प्रभु को शम्भव और मयोभव तथा शङ्कर और मयस्कर कहते हैं। सबसे बाहर की अवस्था में प्रभु शान्ति और सुख के स्रोत-स्वरूप में साधक के सम्मुख आते हैं, उसे विश्वकी समस्त सुख-राशि और शांति उन्हीं से निकलती हुई प्रतीत होती है। इसके पश्चात् दूसरी अवस्था उसके कर्तृत्व की आती है। जो सुख और शांति का स्रोत है, उद्भव और जनक है, वही सुख और शांति का वातावरण दूसरों के लिए उत्पन्न कर सकता है। मन के वातावरण को सुख और शांति से सम्पन्न करने के लिए साधक इसी हेतु प्रभु के चरणों में झुकता है। जैसा पहले लिखा जा चुका है, सुख का सम्बन्ध इन्द्रिय-जगत् के साथ है। इसलिये मंत्र के प्रथम दो चरणों में शांति के साथ सुख का भी उल्लेख हुआ है। प्रथम चरण बाह्य इन्द्रियों की स्वस्थ अवस्था के लिए सुख और शांति की याचना करता है और द्वितीय चरण अन्तःकरण की स्वस्थता के लिए। इसके ऊपरकी सूक्ष्म अवस्था आत्मिक जगत् की अवस्था है, जहाँ तक पहुंचते-पहुंचते सुख पीछे छूट जाता है, केवल शांति रह जाती है। मंत्र के तीसरे चरण में 'मय' अर्थात् 'सुख' का उल्लेख इसी हेतु नहीं पाया जाता। वहाँ 'शिव' और 'शिवतर' दो शब्द आते हैं। आत्मा को इन्द्रियों के सुख के पश्चात् स्वयं शांत-स्वरूप ही बनना है और कुछ नहीं। परमात्म-देव शिवरूप हैं, कल्याण के केन्द्र हैं। वे शिवतर हैं, अपेक्षाकृत सबसे अधिक मङ्गलमय हैं, उनसे बढ़कर अन्य कोई भी सत्ता कल्याण-कर्त्री नहीं है। वे अपने शिवतर रूप में ही शिवतम हैं। इससे अधिक कुछ भी कहना मंत्र-शक्ति का निरादर करना होगा। अतः श्रुति भगवती प्रभु को 'शिव' तथा 'शिवतर' कहकर ही संतोष कर रही है। मानव-जीवन के यही प्रमुख दो लक्ष्य हैं—सुख और शान्ति। महर्षि कणाद ने अपने वैशेषिक-दर्शन में इन्हीं को अभ्युदय और निःश्रेयस कहा है। 卐

※ परमतत्त्व राम-चिन्तन के अभ्यासी, पराधीनता से स्वाधीनता में, जड़ता से उलटकर चिन्मयता में, अशक्ति से असीम शक्ति में, भोग भूमि से लौटकर योग-भूमिका में, असत्‌से विमुख होकर नित्य सत्‌में स्थिर शान्ति हाते हैं। —साधुवेश में एक पथिक

पत्रं-पुष्पं-फलं-तोयम्

अथेदानीं प्रवक्ष्यामि समाधिक्रममुत्तमम् ।
मृत्युघ्नं च सुखोपायं ब्रह्मानन्दकरं परम् ॥

अर्थात्—यहां से आगे समाधिक्रम का वर्णन किया जा रहा है जो समाधिक्रम मृत्यु को मारने वाला और सुख का उपाय स्वरूप है तथा सर्वश्रेष्ठ जो ब्रह्मानन्द है। उसे प्राप्त कराने वाला है।

राजयोगः समाधिश्च उन्मनी च मनोन्मनी ।
अमरत्वं लयस्तत्वं शून्याशून्यं परमपदम् ॥
अमनस्कं तथाद्वैतं निरालम्बं निरञ्जनम् ।
जीवन्मुक्तिश्च सहजा तुर्या चेत्येकवाचकाः ॥

अर्थात्—राजयोग समाधि उन्मनी, मनोन्मनी, अमरत्व, लय, तत्व, शून्याशून्य, परमपद, अमनस्क, अद्वैत, निरालम्ब, निरंजन, जीवन्मुक्ति, सहजा, तुर्या ये सब शब्द समाधि के ही वाचक हैं।

सलिले सैन्धवं यद्वत्साम्यं भजति योगतः ।
तथाऽऽत्ममनसोरैक्यं समाधिरभिधीयते ॥

अर्थात्—जैसे लवण जल में मिलने से जल के ही रूप को प्राप्त हो जाता है वैसे ही आत्म और मन का एक रूप हो जाना समाधि कहलाता है।

यदा संक्षीयते प्राणो मानसं च प्रलीयते ।
तदा समरसत्वं च समाधिरभिधीयते ॥

अर्थात्—जब प्राण क्षीण हो जाता है और मन लीन हो जाता है तब यह समरस संज्ञक समाधि होती है।

तत्समं च द्वयोरैक्यं जीवात्मपरमात्मनोः ।
प्रनष्ट सर्व संकल्पः समाधिः सोऽभिधीयते ॥

अर्थात्—इन दोनों के (प्राण और मन) के एक रूप हो जाने पर समरस समाधि में जीवात्मा और परमात्मा का सम्य हो जाता है। आत्मा में धारण किया गया मन आत्मा

के आकार वाला यानी आत्म स्वरूप ही हो जाता है, सम्पूर्ण संकल्पों का क्षय भी इस अवस्था में हो जाता है यह आत्मा और मन की एकता की समाधि कहलाती है।

दुर्लभो विषय त्यागो दुर्लभं तत्वदर्शनम् ।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां बिना ॥

अर्थात्—श्रेष्ठ गुरु की कृपा के बिना विषयों का त्याग और तत्व दर्शन दुर्लभ ही रहता है। साथ ही बिन गुरु कृपा के सहजावस्था भी प्राप्त नहीं हो पाती है।

उत्पन्न शक्ति बोधस्य व्यक्तिनिःशेषकर्मणः ।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेव प्रजायते ॥

अर्थात्—जिसको कुण्डलिनी का ज्ञान हो गया है। और जिसने समस्त कर्मों का परित्याग कर दिया है। ऐसे योगी को स्वयं तुर्यावस्था (सहजावस्था) हो जाती है।

सुषुम्नावाहिनी प्राणे शून्ये विशति मानसे ।
तदा सर्वाणि कर्माणि निर्मूलयति योगवित् ॥

अर्थात्—प्राणवायु के सुषुम्णा नाड़ी में पहुंच जाने पर और अन्तःकरण के देशकाल वस्तु ज्ञान से शून्य ब्रह्म में प्रविष्ठ हो जाने पर योगी पुरुष प्रारब्ध कर्म सहित सब कर्मों को निर्मूल कर देता है।

चित्ते समत्वमापन्ने वायो ब्रजति मध्यमे ।
तदाऽमरोली वज्रोली सहजोली प्रजायते ॥

अर्थात्—चित्त के समान अवस्था में हो जाने पर वायु सुषुम्णा नाड़ी में प्रविष्ठ हो जाता है। तभी अमरोली, वज्रोली, सहजोली पैदा हो जाती है। जो प्राण और चित्त को नहीं जीत पाते उन्हें निश्चय ही यह स्थितियां प्राप्त नहीं हो पाती है।

न रोगो मरणं तन्द्रा न निद्रा न क्षुधा तृषा ।
न च मूर्छा भवेत्तस्य यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

अर्थात्—जो खेचरी मुद्रा को जानता है उसको रोग, मरण, तन्द्रा, निन्द्रा, क्षुधा, तृषा, मूर्छा ये कोई भी नहीं होते हैं।

पीड्यते न स रोगेण लिप्यते न च कर्मणा ।
बाध्यते न स कालेन यो मुद्रां वेत्ति खेचरीम् ॥

अर्थात्—जो खेचरी मुद्रा को जानता है वह रोग से पीड़ित नहीं होता और कर्म से लिप्त नहीं होता और काल भी उसे बाधा नहीं पहुंचा सकता है।

श्रुति वाक्य—

चातुर्मास में विशेष तप

प्रेषक—एक योग-साधक

स्वदृहस्थ के जीवन का आधार वेद, पुराण एवं महापुरुषों के आप्त-वाक्य मुख्य हैं। जीवन रूपी नाव के ये सच्चे पतवार हैं, इस पर भी यदि साधु पुरुषोंका सत्संग मिला तो जीवन में बहुत भटकाव नहीं होने पाता है। सत्य स्वरूप सनातन विष्णु वर्णाश्रम-धर्म के स्वरूप हैं। इसलिये—

विष्णोः कथा विष्णु पूजा,
ध्यानं विष्णोर्नतिस्तथा।
सर्वमेव हरिप्रीत्याः यः
करोति स मुक्तिभाक् ॥

अर्थात् जो मनुष्य भगवान विष्णु की कथा पूजा, ध्यान और नमस्कार सब कुछ उन्हीं श्रीहरि की प्रसन्नता के लिए करता है, वह मोक्ष का भागी होता है।

षोडशोपचार से सदैव भगवान् विष्णु की पूजा करना तप है। सदा पञ्चयज्ञों का अनुष्ठान भी तप है, परन्तु चातुर्मास्य में श्रीहरि को निवेदन करने पर वही महातप हो जाता है। ऋतुकाल के अतिरिक्त स्त्री सम्बन्ध न रखना गृहस्थ के लिए तप माना गया है, सदा सत्य बोलना तप है। इस भूतल पर निवास करने वाले प्राणियों के लिए दुर्लभ तप कहा गया है। देवेश्वर श्रीहरि के शयन करने पर यह सत्य भाषण रूपी तपस्या करने वाला मनुष्य अनन्त फल का भागी होता है। अहिंसा आदि गुणों का पालन करना तप है, किन्तु चातुर्मास्य में वैर-भाव का परित्याग करके उसका पालन किया जाय तो वह महा तप कहा गया है, पञ्चायतन पूजा महातप है। मनुष्य को चातुर्मास्य में श्रीहरि की प्रीति के लिये इस महातप का विशेष रूप से अनुष्ठान करना चाहिए। सभी पर्वों के अवसर पर दान देना चाहिए; यह तप है, परन्तु चातुर्मास्य में विशेष रूप से उसका पालन करने पर वह दान अनन्त फलदायी हो जाता है।

चौमासे में दो प्रकार का शौच ग्रहण करना चाहिये। एक बाह्य शौच और दूसरा आन्तरिक शौच। जल से नहाना-धोना बाह्य शौच कहलाता है और श्रद्धा से अन्तःकरण को शुद्ध करना आन्तरिक शौच है। इन्द्रियों का निग्रह करना चाहिए, यह तपस्या का लक्षण है, किन्तु चातुर्मास्य में इन्द्रियों की चञ्चलता दूर हो तो वह महातप कहा गया है। इन्द्रिय-रूपी घोड़ों को काबू में रखकर मनुष्य सदा सुख पाता है। वे इन्द्रिय-रूपी अश्व जब कुमार्ग से चलने लगते हैं तब जीव को नरक में गिराते हैं। मनुष्य के शरीर में स्थित काम महान् शत्रु है, इस एक को ही दृढ़तापूर्वक जीतें। जिन महात्माओं ने काम को जीत लिया है, उन्होंने सम्पूर्ण जगत् पर विजय पा ली है। काम और सङ्कल्प पर विजय पा लेना ही तपस्या का मूल है। वही सबसे उत्तम ज्ञान है, जिसके द्वारा काम को

जीत लिया गया है। लोभ भी सदा त्यागने योग्य है, क्योंकि लोभ में पाप की स्थिति है, लोभ को जीत लेना ही तप है। चातुर्मास्य में इसका विशेष महत्व है, मोह का अर्थ है अविवेक, वह सदा त्याग देने योग्य है। जो मोह से रहित है वही ज्ञानी है; मनुष्यों के शरीर में रहने वाला मद महान् शत्रु है। यों तो सदा ही, किन्तु चातुर्मास्य में विशेष रूप से निग्रह करना चाहिए। मान भी बड़ा भयङ्कर शत्रु है, वह सब प्राणियों के भीतर निवास करता है; उसे क्षमा द्वारा जीतना चाहिए। चातुर्मास्य में उसे जीतना अधिक गुणकारी होता है। मात्सर्य (ईर्ष्या) भी महान् पातक का कारण है, अतः विद्वान् पुरुष चातुर्मास्य में उसको जीतें। जिसने उसे जीत लिया, उसने तीनों लोकों को जीत लिया। अहंकार के वशीभूत हुए अजितेन्द्रिय मुनि धर्म-मार्ग को छोड़कर कुमार्ग के कर्म करने लगते हैं। अतः अहंकार का परित्याग करके मनुष्य सदैव सुख पाता है। विशेषतः चातुर्मास्य में अहंकार के त्याग का महान् फल है, तपस्या का मूल है। जो मनुष्य विष्णु के शयनकाल में प्रतिदिन एक समय भोजन करता है, उसे द्वादशाह यज्ञ का फल मिलता है। जो मनुष्य चातुर्मास्य में प्रति मास नित्य चन्द्रायण व्रत करता है, उसके पुण्य का वर्णन नहीं किया जा सकता। जो भगवान् विष्णु के शयन-काल में कृच्छ्र व्रत का सेवन करता है, वह पाप-राशि का नाश करके वैकुण्ठ में भगवान् का पार्षद होता है। जो चातुर्मास्य में केवल दूध पीकर रहता है, उसके सहस्रों पाप तत्काल विलीन हो जाते हैं। यदि कोई सद्गृहस्थ चौमासे में नित्य परिमित (नाप-तौल के या निश्चित करके) अन्न का भोजन करता है तो वह सब पातकों का नाश करके वैकुण्ठधाम पाता है। चौमासे में एक अन्न को ग्रहण करने वाला व्यक्ति रोगी नहीं होता है। चौमासे में भगवान् विष्णु की प्रसन्नता के लिए फलाहार करने वाला मनुष्य बड़े-बड़े पापों से मुक्त हो जाता है।

इस प्रकार चौमासे में किया गया तप महातप हो जाता है, परन्तु उसको शुद्ध-बुद्धि से करना चाहिए।

सद्ब्रह्म प्राण का भी प्राण है। प्राण शब्द में चेतन-शक्ति का भाव निहित है, जो अन्य शब्दों में नहीं है।

माया, प्रकृति तथा अव्यक्त शब्दों में अचेत (जड़ता) का भाव प्रतिध्वनित होता है इसलिए हमने सृष्टि की प्रागावस्था को माया अथवा प्रकृति के स्थान पर प्राण नाम से सम्बोधित करना वैदिक विचार प्रणाली के अनुकूल समझा है। प्राण अन प्राणने धातु से बनता है। अर्थात् प्राण को जीवन-शक्ति कहा जा सकता है।

—स्वामी विष्णुतीर्थ

भगवत्-स्वरूप वर्णन

ब्रह्मभाव की प्राप्ति

❀ वैद्य श्री रामधन शर्मा शास्त्री

भगवान् को प्राप्त करने की पाँच प्रकार की विधियाँ होती हैं। उनके द्वारा भगवत्-स्वरूप को मनुष्य प्राप्त कर लेता है। मनुष्य जन्म प्राप्त करके इस संसार सागर को पार करने के लिए सबसे उत्तम कार्य यही है कि भगवान् के स्वरूप को प्राप्त करें, क्योंकि इस असार संसार में मनुष्य योनि ही बड़ी कठिनता से मिलती है। जैसे—

मनुष्य जन्मो दुर्लभः।

मनुष्य का जन्म ही दुर्लभ है, इस मनुष्य जन्म को पाकर भी यदि भगवान् की प्राप्ति का उद्योग नहीं किया, तो वह मनुष्य इस पृथ्वी पर एक भार ही है, जैसे कहा है—

येषां न विद्या न तपो न दानं
न चापि शीलं न गुणो न धर्मः।
ते मृत्युलोके भुविभार भूताः,
मनुष्य रूपेण मृगाश्चरन्ति॥

उपरोक्त कहे के अनुसार यदि मनुष्य में एक भी गुण नहीं है तो वह पृथ्वी पर भार-रूप ही है।

धर्मात्मा पुरुष यज्ञों के द्वारा देवताओं को और तपस्या के द्वारा विराट् के पद को और कर्मयोग संन्यास द्वारा ब्रह्म-पद को, वैराग्य से प्रकृति लय को, कैवल्यपद (मोक्ष) को प्राप्त होता है, इस प्रकार ये पांच गतियाँ मानी गई हैं। प्रसन्नता, संताप और विषाद आदि से निवृत्त होना वैराग्य है। जो कर्म किये जा चुके हैं और जो अभी नहीं किये हैं, उन सबकी आसक्ति फलेच्छा और संकल्प का परित्याग 'संन्यास' कहलाता है। ऐसा हो जाने पर अव्यक्त से लेकर विशेष-पर्यन्त सभी पदार्थों के प्रति अपने मन में कोई विकार नहीं रह जाता। जड़-चेतन की भिन्नता का ज्ञान (विवेक) होने से ही परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति बतलाई जाती है। परमात्मा सबके आधार और आश्रय हैं। वेदों और वेदान्तों (उपनिषदों) में विष्णु नाम से उनका गुणगान किया जाता है, वे यज्ञों के स्वामी हैं। प्रवृत्ति मार्ग से चलने वाले लोग यज्ञ-पुरुष के रूप में उनका यज्ञ न करते हैं तथा निवृत्ति मार्ग के पथिक ज्ञानयोग के द्वारा उन ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत वचन उन पुरुषोत्तम के ही स्वरूप हैं।

उनकी प्राप्ति के दो हेतु बतलाये हैं—ज्ञानयोग और कर्मयोग। ज्ञान दो प्रकार का है—आगम जन्य और विवेक जन्य। शब्द-ब्रह्म वेदादि शास्त्र और प्रणव का बोध आगम जन्य है तथा परब्रह्म का ज्ञान विवेक जन्य कहा गया है। ब्रह्म दो प्रकार से जानने योग्य है—एक शब्द-ब्रह्म और दूसरा परब्रह्म, वेदादि विद्या को शब्द-ब्रह्म या अपर-ब्रह्म कहते हैं और सत्-स्वरूप अक्षर तत्व परब्रह्म कहलाता है। यह परब्रह्म ही 'भगवत्' शब्द का मुख्य वाच्यार्थ है। प्रजा (सम्मान) आदि अन्य अर्थोंमें जो उसका प्रयोग होता है। वह औपचारिक गौण है, भगवत शब्द में जो भकार है उसके दो अर्थ हैं—पोषण करने वाला और सबका आधार तथा गकार अर्थ

है—'नेता' कर्मफल की प्राप्ति कराने वाला 'समग्रिता, प्रेरक और स्रष्टा (सृष्टि करने वाला) सम्पूर्ण ऐश्वर्य प्राकर्म अथवा कर्म यश श्री, ज्ञान और वैराग्य—इन छः का नाम भग है। विष्णु में सम्पूर्ण भूत निवास करते हैं। वे भगवान् सबके धारक तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश इन तीन रूपों में विराजमान हैं। अतः श्रीहरि में ही भगवान पद मुख्यवृत्ति से विद्यमान है, अन्य किसी के लिए जो उसका उपचार (गौण) से प्रयोग होता है। जो सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति, विनाश, आवागमन तथा विद्या, अविद्या को जानता है, वही भगवान् कहलाने योग्य है। त्याग करने योग्य दुर्गुण आदि को छोड़कर सम्पूर्ण ज्ञान-शक्ति परम ऐश्वर्य तथा समग्र तेज ये भगवत् शब्द के वाच्यार्थ हैं।

पूर्व काल में केशिध्वज ने खाण्डीकजनक को इस प्रकार उपदेश दिया था। अनात्मा में जो आत्म-बुद्धि होती है, अपने स्वरूप की भावना होती है, वही अविद्याजनित संसार का बन्धन कारण होता है। इस अज्ञान की अहंता और ममता दो रूपों में स्थित है। देहाभिमान जीव मोहान्धकार से आच्छादित हो कुत्सित बुद्धि के कारण इस पंच-भौतिक शरीर में यह दृढ़ भावना कर लेता है कि मैं ही यह देह हूँ। इसी प्रकार इस शरीर से उत्पन्न हुए पुत्र-पौत्र आदि ये मेरे हैं, ऐसी निश्चित भावना बना लेता है।

विद्वान् पुरुष अनात्म भूत शरीर में सम-भाव रखता है। मनुष्य अपने शरीर के लिए अर्थात् भलाई के लिए सारे कार्य करता है। किन्तु जब पुरुष से शरीर भिन्न है वास्तव में आत्मा निर्वाणमय (शान्त) ज्ञानमय तथा निर्मूल है? प्रस्वानभव रूप जो धर्म है वह प्रकृति का है। आत्मा का नहीं जैसे स्वयं अग्नि से असङ्ग है। परन्तु आग पर रखी हुई बटलोई के संसर्ग से उसमें ताप जनित खलबलाहट आदि के शब्द होते हैं। इसी प्रकार आत्मा भी प्रकृति के संग से अहंता ममता आदि दोष स्वीकार करके प्राकृत धर्मों को ग्रहण करता है वास्तव में तो वह उनसे सर्वथा भिन्न है। और अविनाशी है। विषयों में आसक्त हुआ मन बन्धन का कारण होता है। वही जब विषयों से निवृत्त हो जाता है। तो ज्ञान प्राप्ति में सहायक होता है। अतः मन को विषयों से हटा कर ब्रह्म-स्वरूप श्री हरि का स्मरण करना चाहिये। जैसे चुम्बक लोहे को अपनी ओर खींच लेता है, उसी प्रकार जो ब्रह्म का ध्यान करता है उसे वह ब्रह्म अपनी ही शक्तिसे अपनी ओर खींच लेता है। अर्थात् अपने स्वरूप में मिला लेता है। अपने प्रयत्न अपेक्षा से जो मन की विशिष्ट गति होती है। उसका ब्रह्म से संयोग होना ही योग कहलाता है तो पुरुष स्थिर भाव से समाधि में स्थित होता है वह परब्रह्म को प्राप्त होता है। अतः यम-नियम प्रत्याहार, प्राणजय, प्राणायाम इन्द्रियों को विषयों की ओर हटाने तथा उन्हें अपने वश में करने आदि उपायों के द्वारा चित्त को किसी शुभ आश्रय में स्थापित करे। वह

चित्त का शुभ आश्रय है। वह मूर्त और अमूर्त रूप से दो प्रकार का है। मन सनक सनन्दन आदि मुनि ब्रह्म भावना से युक्त है। तथा देवताओं से लेकर स्थावर जंगम पर्यन्त सम्पूर्ण प्राणि कर्म भावना से युक्त है। हिरण्यगर्भ (ब्रह्मा) आदि में ब्रह्म भावना और कर्म भावना से युक्त है। क्योंकि ये दोनों ही भावनायें हैं। इस प्रकार यह तीन प्रकार की भावना बताई गई हैं। सम्पूर्ण विश्व ही ब्रह्म है इस भाव से ब्रह्म की उपासना की जाती है जहाँ सब भेद शान्त हो जाते हैं। जो सत्तामात्र और वाणी का अगोचर है। तथा जिससे स्वसंवेदी (स्वयं अनुभव करने योग्य) माना गया है। वही ब्रह्म ज्ञान है। वही रूपहीन विष्णु का उत्कृष्ट स्वरूप है। जो अजन्मा अविनाशी है। अमूर्त रूप का ध्यान पहले कठिन होता है। अतः मूर्त आदि का ही चिन्तन करें। ऐसा करने वाला मनुष्य ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाता है। परमात्मा के साथ एकीभूत अभिन्न हो जाता है भेद की प्रतीति तो अज्ञान से होती है। क्योंकि मनुष्य के हृदय पर अज्ञानता का आवरण होता है। जब ध्यानाभ्यास से अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है तो हृदय का आवरण दूर हट जाता है तो ब्रह्म भाव की प्राप्ति होती है।

भिद्यन्ते हृदय ग्रन्थि
छिद्यन्ते सर्व संशयः।

क्योंकि अज्ञानता से अन्धकार या हृदय में अन्धेरा रहता है मनुष्य के जो पाप हैं उन्हीं से हृदय में तमोगुण का अन्धकार है। जब ध्यानावस्था में लाल प्रकाश आता है तो रजोगुण प्रकाशित होता है जब सतोगुण का प्रकाश ध्यानावस्था में दीखता है तो श्वेतवर्ण का प्रकाश होता है जब सतोगुण का प्रकाश अन्दर जगमगायेगा तो हृदय की ग्रन्थि खुल जायेगी और संशय दूर हो जायेंगे और ब्रह्म पद की प्राप्ति हो जायेगी। अतःएव उनको प्राप्त करने के लिए प्राणायाम और ध्यान की आवश्यकता है फिर समाधि लग जाती है और जिस ईश्वरके पाने की हम चेष्टा कर रहे हैं उसकी प्राप्ति हो जाती है। 卐

❀ इन्द्रिय लोलुपता ❀

इन्द्रिय लोलुपता के वशीभूत होकर सामान्य प्राणी भी विपत्ति में फँसते हैं। फिर बढ़ी हुई लिप्सा के कारण मनुष्य का सर्वनाश हो तो आश्चर्य ही क्या ?

बहेलिए की वीणा पर मुग्ध होकर कान का लोलुप हिरन मारा जाता है। गंध पर सुधि-बुधि खो बैठने वाला भौंरा कमल में बन्द होकर प्राण गंवाता है। जीभ की लोलुप मछली आटे की गोली में गला फँसाती है। कामुक हाथी छद्म हथिनी के पीछे लगकर पकड़ने वालों के खड्ड में जा गिरता है और दुर्गतिग्रस्त होता है। रूप का असंयम बरतने वाला पतंगा दीपक पर गिर कर प्राण गंवाता है। आँख मूँद कर चाशनी पर कूदने वाली मक्खी पर फँसाती और जान गंवाती है। जबकि किनारे बैठकर धीरे-धीरे पेट भरने वाली चींटी पेट भी भरती है और विपत्ति में भी नहीं पड़ती।

व्यक्तित्व-विकास और योग

❀ श्री आर० आर० दिवाकर

योग का कुछ ऐसा अर्थ है जो थोड़े से वाक्यों द्वारा सूचित नहीं किया जा सकता। इस छोटे से लेख में मैं किस अर्थ से उसका प्रयोग कर रहा हूँ, बस इतना ही कह सकूँगा।

योग एक संस्कृत शब्द। वह युज् धातुसे निकला है, जोड़ना, जोतना, एक हो जाना। इसलिए योग का अर्थ होगा एकता, सहभागिता। योग उस विज्ञान और कला का नाम है जो मानव की व्यक्तिगत आत्मा को वैश्विक आत्मासे मिलता है—आत्म-साक्षात्कार। साधारणतया उस वैश्विक आत्मा के लिए जो औपचारिक नाम प्रयुक्त होता है, वह है परमात्मा।

योग एक विज्ञान है, क्योंकि वह तथ्यों पर तथा मानव-चेतना पर आधारित है। वह उसकी (चेतना) सम्भावनाओं को खोजने पर प्रयोग करता है और उसे अपने स्वयं के प्रयासों से पूर्ण शान्ति तथा असीम आनन्द तक पहुंचने के लिए विकसित करता है।

योग एक कला भी है, जिससे बार-बार प्रयोग और कतिपय साधनों द्वारा मनुष्यों ने यह पाया है कि वे अपनी चेतना में ऐसे स्तर पर पहुंच सकते हैं, जहाँ एकात्मता की उच्चतम अनुभूति, असीम आनन्द और पूर्ण शांति का राज्य है।

विचारणीय विषय यह है कि यह योग का विज्ञान और कला मानव-व्यक्तित्व के पूर्ण तथा सर्वांगीण विकास में किस तरह सहायक हो सकते हैं। विकास का अर्थ है, मानव-प्राणी में स्थित अन्तःशक्तियों का लाभप्रद और सम्पूर्ण विकास।

हर एक प्राणी बालक के रूप में जन्म लेता है और फिर बचपन, युवावस्था में से गुजरते हुए पूर्ण पुरुष या महिला बनता है। इसे हम प्राकृतिक विकास या पुरुष और स्त्री में विकास कह सकते हैं।

लेकिन हर व्यक्ति में स्वयं से सम्बन्धित सभी पहलूओं के सम्पूर्ण विकसित होने की आकांक्षा रहती है। देखें, कि क्या वह योग द्वारा पूर्ण हो सकती है? मानव प्राणी में कुछ प्रकृतिदत्त ऊर्जाएँ और क्षमताएँ होती हैं शरीर, प्राण, बुद्धि, भावना, सौंदर्याभिरुचि, नैतिकता, आध्यात्मिक आकांक्षा आदि आदि। इन सब ऊर्जाओं तथा क्षमताओं के समाकलित तथा स्वस्थ विकास को ही व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कहा जा सकता है। शायद कुछ सीमा तक यह अधिक प्रयास न करते भी हो सकता है। लेकिन प्रश्न यह है कि सर्वोच्च पूर्णता पर कैसे पहुंचा जाये? क्या वह योग के अनुशासन तथा साधना द्वारा हो सकता है?

महायोगी श्री अरविंद ने कहा था—"योग एक सचेतन विकास है। स्वयं के व्यक्तित्व को समाकलित पद्धति से विकसित कर पूर्णावस्था में पहुंचने के लिए योग एक साधन है।"

स्वयं की शक्तियाँ और उनकी संभावनाएँ

ज्ञात करने के लिए योग एक शास्त्र और कला है। इसलिए हमें उन शक्तियों को स्वाभाविक तथा स्वस्थ तरीके से विकसित करना चाहिए। उन्हें मार्ग भ्रष्ट होने से बचाकर पूर्ण, स्वस्थ तथा सर्वांगीण विकास में लगाना चाहिए। अपने जीवनहेतु की परिपूर्णता तथा समस्त प्राणिमात्र के जीवन की पूर्णता के लिए उसका उपयोग करना चाहिए। सर्वभूत: हिते रत:—सभी के भले की चाह।

किसी के व्यक्तित्व के पूर्ण तथा सर्वांगीण विकास का स्वाभाविक अर्थ होगा स्वस्थ और सुन्दर मानव शरीर। प्रसन्न मन से काम करने का उत्साह और तत्परता, तीक्ष्ण, मार्मिक, तर्कसंगत, विवेक पूर्ण बुद्धि, स्वस्थ भावनाएँ, जहाँ सम्भव हो सौन्दर्य को पहचान कर आनन्द लेने की तत्परता, सजग चेतना के साथ नैतिकता, सर्वोच्च आध्यात्मिक शक्ति यानी परमेश्वर पर श्रद्धा जो अखिलसृष्टि का निर्माता और नियंता, जिसके लक्षण है।

मानव चेतना के साथ लगाकर विकसित हो रहे विज्ञान और कला के रूप में योग ने कुछ समय के लिए अनुशासन और साधना को इतना विकसित कर लिया है कि उसके द्वारा एक सर्वांगीण, सम्पूर्ण व्यक्तित्व गढ़ने में वह मददगार हो सकता है।

प्रश्न सिर्फ इतना ही है कि योग के उन पहलुओं तथा तकनीक का विवेक से चुनाव कर किन्हीं विशेष व्यक्तियों तथा उद्देश्यों के लिए ठीक ढङ्ग से उपयोग करना। यह उन व्यक्तियों की शक्ति और क्षमता तथा विकास की किस अवस्था पर वे पहुंचे हैं इस पर अवलंबित रहेगा।

उदाहरण के लिए हठयोग है। उसका आसन, प्राणायाम द्वारा व्यक्ति के शरीर, प्राण तथा जीवन ऊर्जा को प्रबल, परिशुद्ध बनाने के लिए अधिक उपयोग हो सकता है।

कर्मयोग उनके लिए उपयुक्त है, जो अपना कर्म अनासक्त भाव से बगैर फल की आशा किये परमेश्वर को अर्पण करते हैं।

भक्तियोग, जो भावुक है, उनके लिए भक्तियोग अधिक उपयोगी रहेगा। उन्हें अपनी भावाकुलता परमेश्वर के लिए भक्ति और प्रेम में रूपांतरित करनी होगी। और यह भी बगैर कुछ मांगे।

ज्ञानयोग—जिनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति दार्शनिक होकर, जो बौद्धिक प्रयास द्वारा अन्तिम सत्य खोजना पसन्द करते हैं, उनके लिए ज्ञानयोग ठीक रहेगा।

राजयोग उनके लिए अच्छा है, जो परात्पर सत्तापर ध्यान कर सकते हैं तथा इस प्रकार के ध्यान में निमग्न हो सकते है।

यह ध्यान में रखना होगा कि योग के ये विभिन्न पहलू एक-दूसरे के आवर्जक नहीं हैं। प्रत्येक योग अभिज्ञा को उन्नत करने तथा निर्धारित साधना को कार्यान्वित करने के लिए है। उन सबमें महत्त्वपूर्ण है आत्मसंयम, मन:शुद्धि, ध्येयनिष्ठा और ध्येय के लिए कठोर साधना।

हमें यह समझ लेना चाहिए कि मानव का विकास हो रहा है। विकास की प्रेरणा

आदर्श सन्त राजनारायण

❀ श्रद्धेय गुरुदेव श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

श्रीमद्भगवद्गीता के बारहवें अध्याय में अखिलात्मा भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने-आपको प्रिय लगने वाले आदर्श सन्तके लक्षण लिखे हैं और साथ ही यह भी कह दिया है कि ऐसा मेरा जो भक्त है, वह मुझे अत्यन्त प्रिय है। भगवान् के अनुसार प्रिय लक्षण इस प्रकार हैं—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां
मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहंकारः
समदुःखसुखः क्षमी ॥
संतुष्टः सततं योगी
यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो
मद्भक्तः स मे प्रियः ॥

—गीता १२/१३-१४

अर्थात् जिसका प्राणी मात्र के प्रति द्वेष न हो और सबके प्रति मित्रता के भाव हों, निर्मम और निरहङ्कार हो, सबके प्रति क्षमा-युक्त हो। हमेशा सन्तुष्ट रहने वाला पूर्ण जितेन्द्रिय दृढ़ निश्चय वाला जिसने मन और बुद्धि मेरे अर्पित कर दिये हों, ऐसा योगी मुझे अत्यन्त प्रिय है।

मैंने उपर्युक्त सारे के सारे गुण अपने बच्चे प्रिय राजनारायण के अन्दर पूर्ण रूपसे देखे। सबसे प्रथम जिस समय रायबरेली चुनाव-क्षेत्र में चुनाव लड़ने की इच्छा से आगरा, इण्डक्षा आदि स्थानों पर अपने मित्रों से मिलते हुए वे मेरे पास योग-प्रशिक्षण केन्द्र श्रीसिद्ध गुफा सर्वाई आश्रम आये, उस समय उनके साथ और भी कुछ नेता थे।

प्रथम दृष्टया आश्रमवासी ब्रह्मचारी और मैं स्वयं उन्हें आता हुआ देखकर पहिचान नहीं सका। सोच रहा था, ये कौन लोग आये हैं? इस सोच-विचार के तारतम्य में ही आने वालों की टोली में से एक व्यक्ति आगे आये और बोले कि मैं राजनारायण हूं। रायबरेली से संसद का इलैक्शन लड़ने के विचार से आपके दर्शन करने आया हूं। आगन्तुक श्री राजनारायण के विनययुक्त

अन्दर से है। हमारा कर्तव्य इतना है कि उसे स्वस्थ दिशा में मोड़े। चेतना का विकास मात्र सत् (आत्मा) है न कि यह शरीर। योग का उद्देश्य है, मानव-चेतना—आत्मा को व्यक्तित्व की अन्य शक्तियों और क्षमताओं का स्वामी बनाना। मानव आज संक्रमणावस्था में है। पाशविकता से मानवी होते हुए दैवी होने तक उसकी यात्रा है। दैवी स्थिति यानी सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की परिणति। मानव को यह केन्द्रीय तथ्य समझ लेना चाहिए और उन उपलब्धियों के चरम बिन्दु की ओर पहले से ही कार्यरत विकासशील शक्तियों का साधन बन जाना चाहिए।

वचन सुनकर तथा उनके हार्दिक भावों को देखकर मेरा मन प्रसन्न हो उठा और अपनी इस प्रसन्नता के फलस्वरूप मैंने उन्हें आशीर्वाद देकर चुनाव लड़ने की स्वीकृति प्रदान करते हुए उन्हें रायबरेली भेज दिया। थोड़ी देर ठहर कर ही आश्रम से वे प्रसन्न मुद्रा में अपने अभीष्ट स्थान की अभीष्ट सिद्धि के लिए रवाना हो गये। रायबरेली के चुनाव-क्षेत्र से विजयी होकर श्री राजनारायण पुनः मेरे पास श्री सिद्ध गुफा सतांई आश्रम में अपने अनेक प्रशंसकों एवं सहयोगियों के साथ आये। जिस समय वे दुबारा आये, उस समय का उनका रंग-ढंग और उनका रूपक कुछ और ही था। गुरु-निष्ठा, श्रद्धा और प्रेम विह्वलता उनके मुखमण्डल से स्पष्ट प्रकट हो रही थी। उनके हाथों में फलों से बोझिल टोकरी, पुष्प-मालाएँ और मिठाई के अनेक छोटे-बड़े डिब्बे थे। कुछ उन्होंने उठाये हुए थे और कुछ उनके समर्थकों के हाथों में थे। आते ही उन्होंने विनम्रता से झुककर प्रणाम किया और मेरे कुछ कहने से पहले ही बोल उठे—गुरुजी! मैं योग-दीक्षा लेने की अभिलाषा लेकर आया हूँ, कृपा करके मुझे योग-दीक्षा देवें। दीक्षा लेने का मेरा उद्देश्य अन्तर्जगत में प्रवेश करके उस अदाय-आनन्द की गङ्गा में स्नान करना है, जिसमें प्रवेश करके कोई भी साधक कृतार्थ हो जाया करता है।

इधर एक घटना यह हुई कि प्रिय राजनारायण के आश्रम आने से पहले ही दैनिक अमर उजाला के सम्पादक श्री डोरीलाल अग्रवाल के द्वारा मुझे प्रधान मन्त्री मोरारजी देसाई का यह सन्देश मिल चुका था कि मैं श्री राजनारायण को "येनकेन प्रकारेण" मन्त्रि-मण्डल में प्रवेश कराने के लिए राजी कराऊँ। यह भी मुझसे कहा गया कि अगर राजनारायण मन्त्रि-मण्डल से बाहर रहेंगे तो वे उखाड़-पछाड़ करने की प्रक्रिया चाहे जब शुरू कर देंगे, ऐसा होना देश के हित में नहीं होगा। इसलिए श्रीराजनारायण जी पर अवश्य ही बल देकर उन्हें लिखित रूप से मन्त्रि-मण्डल में सम्मिलित होने को राजी करलें ताकि हम सब लोग उनके परामर्श से सभी काम सुचारु रूपसे चला सकें।

योग-दीक्षा की विधि समाप्त हो जाने के पश्चात् मैंने श्री राजनारायण को मोरार जी देसाई के सन्देशानुसार मंत्रि-मण्डल में प्रवेश होने की उनकी इच्छा से उन्हें अवगत करा दिया और ऐसा करने के लिए मंत्रि-मण्डल में शामिल होने के लिए उन्होंने अपनी सहमति और स्वीकृति भी प्रदान करदी।

राजनारायण मेरी स्वीकृति और सहमति पाकर चौंके और बोले—गुरुजी! आप मुझे दीक्षा देते ही सबसे पहले यही आज्ञा क्यों दे रहे हैं? क्यों मुझे आप इस आग में झोंक रहे हैं? वे आगे बोले—"गुरुजी! मैंने पहले की राज-सत्ता को देखा और अब इनको भी देखूँगा। मैं स्वयं किसी पद को ग्रहण नहीं करना चाहता। राजनारायण के इस नकारात्मक उत्तर में मुझे उनकी त्याग-वृत्ति का पूरा आभास नजर आ रहा था। फिर भी

मैंने उन्हें हठात् अपनी आज्ञा स्वीकार करने को कहा और मिठाई के कुछ डिब्बे लेकर उन्हें दिल्ली जाने वाली ट्रेन पकड़ने के लिए आश्रम से विदा कर दिया और कह दिया कि इस मिठाई को जो मैं दे रहा हूं, मंत्रि-मण्डल के सदस्यों में बाँट देना। चलते-चलते मैंने उनसे फिर कहा कि तुम्हें मंत्रि-मण्डल में अवश्य शामिल होना है, इन्कार करने जैसी कोई बात करना नहीं। चलते समय राजनारायण ने मेरे चरणों का स्पर्श किया और कहा कि गुरुजी! जब आपने स्वीकृति और आदेश मुझे दे दिया है तो फिर उससे पीछे हटने की कोई बात ही नहीं है। आप शीघ्र ही समाचार-पत्रों में पढ़ लेंगे कि आपके इस बच्चे ने मंत्रि-मण्डल में प्रवेश पा लिया है, हुआ भी ऐसा ही। राजनारायण मंत्रि-मंडल में सम्मानपूर्वक सम्मिलित किये गये और उन्हें समाज-कल्याण विभाग जैसे जनोपयोगी विभाग का केबिनेट स्तर का मन्त्री घोषित कर दिया गया। इस घोषणा के उपरान्त राजनारायण ने अपने दायित्व का निर्वाह बड़ी कुशलता व लगन के साथ करना शुरू कर दिया। इधर मेरे और राजनारायण के सम्बन्धों की चर्चा भी लोगों में भली प्रकार से प्रसारित हो चुकी थी। इसका प्रसारित होना स्वाभाविक भी था। अनेक पीड़ित और परेशान व्यक्ति मेरे पास इसलिए आने-जाने लगे कि वे उनके कष्ट को जो कि राजनारायणजी के विभाग से सम्बन्धित था तथा जो उनके कर्त्तव्य-क्षेत्र में आ सकता था, उन तक पहुंचा कर राहत दिलाने की कृपा करें। चि० राजनारायण ने ऐसे सभी व्यक्तियों के काम को सहानुभूतिपूर्वक सुलझा देनेमें अपनी यथोचित सहायता करके उनका भला किया। यह उनके स्वभाव की सौजन्यता व सरलता थी कि वे किसी भी ऐसे व्यक्ति को जिसके बारे में मैंने थोड़ा भी संकेत कर दिया उसको निराश होकर नहीं लौटने दिया।

दीक्षा ग्रहण करके पद-भार संभालने के उपरान्त राजनारायण ने अपने रहन-सहन और खान-पान के दैनिक व्यवहार में आश्चर्य-जनक परिवर्तन कर डाला। मेरे निर्देशानुसार वे सात्विक आहार का ही सेवन करने लगे और सादगी से एक आदर्श सन्त के समान अपना जीवन व्यतीत करने लगे थे। यद्यपि उन्हें मन्त्री होने के नाते सभी राजकीय सुविधायें प्राप्त थीं, किन्तु इनसे दूर रहकर वे एक संयमी और जितेन्द्रिय साधकके समान ही अपने सारे कार्यक्रमों में संलग्न रहते थे। यह भी मैंने उन्हें विशेष रूप से निर्देशित किया था कि वे नित्य प्रति प्रातः ५ बजे से ७ बजे तक ध्यानाभ्यास किया करें। कठोरता से उन्होंने इस निर्देश का पालन करते हुए ध्यानाभ्यास को अपने कार्यक्रम का अनिवार्य अङ्ग बना लिया था। कभी भी उन्होंने इस नियमका उल्लंघन नहीं किया। अपने दिल्ली प्रवास में हमने अथवा किसी दूसरे ने इस बीच (५ बजे से ७ बजे तक) में फोन करके उनसे कोई जानकारी लेनी चाही, तो उनके निवास से यही उत्तर मिलता था कि नेताजी

पूजा-भजन और ध्यान में बैठे हैं। ७ बजे तक वे किसीसे कोई बात नहीं करते, न ही किसी का फोन ही सुनते हैं। ऐसे दृढ़ नियम के पालन करने वाले थे वे। हमारे आश्रम से सम्बन्धित बच्चों में नियम-पालन की यह दृढ़ता कुछ इने-गिनों में ही देखी जा सकती है, प्रायः सबमें नहीं।

उनकी साधना एवं सहज-समाधि

प्रिय राजनारायण को जो योग-दीक्षा दी गई थी वह 'सिद्धयोग' की दीक्षा थी, जिसका सम्बन्ध नैपाल हिमालय में विराजमान रहने वाले सिद्धों से था। भगवान् गङ्गेश्वर के उपदेशानुसार उनको मूलाधार कमल में दर्शन करने का आदेश दिया गया था। इस आदेश का उन्होंने पूर्णरूपेण पालन किया और अभ्यास करते-करते उनकी यह स्थिति बन गई कि मूलाधार कमल के बिना किसी रुकावट के खुली आँखों दर्शन करते थे। सभी लोगों की दृष्टि में राजनारायण अन्य नेताओं के समान ही साधारण नेता हैं, ऐसा भासित होता था। पर यह किसी को ज्ञात नहीं था कि वह अन्तर्जगतमें प्रवेश कर चुके हैं उनकी साधना और उच्चता का यह बहुत बड़ा चिह्न था। राजनारायण इसी स्थिति में शनैः-शनैः अपने जीवन को उत्कृष्टतर बनाते हुए देश-सेवा के अपने कर्त्तव्य का पालन करते रहे। मुझे यही उनके जीवन की एक विशेषता भी भली प्रकार देखने को मिली कि वे मान और अपमान दोनोंमें समान स्थिति में रहते थे। चुनाव-क्षेत्र में जय और पराजय दोनों ही उनके लिए एक समान थीं। जीतने का न कोई विशेष हर्ष होता था और न पराजित होने पर कोई खेद। दोनों ही स्थितियों में उनका मन अपरिवर्तनीय अचल और अडिग बना रहता था, कर्त्तव्य बुद्धि से ही वे सब कुछ करते थे। उनके खान-पान के बारे में कतिपय समाचार-पत्रों में कुछ असत्य बातें भी प्रकाशित हो जाती थीं। निश्चय ही ये सत्य से बहुत दूर होती थीं। निश्चयपूर्वक यह कहा जा सकता है कि जब से उन्होंने योग-दीक्षा ग्रहण की है, उन्होंने अपने खान-पान को सात्विक और परिशुद्ध बना लिया था। किसी अभक्ष्य पदार्थ का कभी सेवन नहीं किया। सवाई आश्रम में आयोजित एक समारोहमें बोलते हुए उन्होंने हजारों व्यक्तियों के सामने इस सत्य को प्रकट करते हुए कहा था कि गुरुजी से योग-दीक्षा लेने के उपरान्त मैंने अपने आहार-विहार सभी को नितांत सात्विक बना लिया है। वस्तुतः वे जन-जीवन के ऐसे कर्मठ नेता थे जिनमें पदाभिमान की गंध कभी किसी के अनुभव में नहीं आई। कार्यकर्त्ता से अधिक दिखने की कोई चेष्टा नहीं करते थे। यही कारण था कि उनकी ऐसी सादगी, सरलता और निरभिमानता के कारण ही राजनीति से जुड़े सैकड़ों कार्यकर्त्ता सदा उनके आगे-पीछे लगे रहकर उनके दिशा-निर्देश प्राप्त करने को लालायित रहा करते थे। राजनारायण अपना प्रत्येक विचारणीय कार्य बहुत सोच-विचार और विधि-विधान की मर्यादाओं का ध्यान रखकर ही किया करते थे।

एक बार वे किसी कार्यवश लिमला गये। वहाँ पार्टी-कर्त्ताओं के बीच में कुछ इस प्रकार का आलोचनात्मक भाषण दे डाला, जो प्रशासन संचालन में भागीदार बने हुए मंत्री को नहीं देना चाहिए। प्रधानमंत्री श्रीमोरार जी देसाई पर जब इस भाषण की रिपोर्ट पहुंची तो उन्होंने इनसे तुरन्त त्याग-पत्र देने का आग्रह किया। प्रधान मंत्री ने यह विचारने का कष्ट नहीं किया कि राजनारायण जैसे साधु-पुरुष का भाषण भावना-प्रधान हो सकता है, उसमें समाज या देश-हितके विरुद्ध कुछ भी नहीं हो सकता। प्रधान मंत्री ने यह भी नहीं सोचा कि मंत्री-बनना राजनारायण ने उनके आग्रह पर ही स्वीकार किया था। स्वयं उनकी कोई इच्छा और अभिलाषा इसे ग्रहण करने की नहीं थी। ऐसी स्थिति में क्या देर लगती थी, उन्हें श्री देसाई को अपना त्याग-पत्र समर्पित करने में। तुरन्त ही त्याग-पत्र लिखा और उसे तत्कालीन प्रधान मंत्री श्री मोरारजी भाई को प्रेषित कर दिया। पद-भार छोड़ने का उनके मन पर कोई भी प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ा, वे उन कार्यों में संलग्न हो गये, जिनमें मंत्रि-पद ग्रहण करने से पूर्व भी लगे हुए थे। मंत्री-पद का ग्रहण और परित्याग न हर्ष का कारण बना न विषाद का। समत्व भाव से वे अपने कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ हो गये। उस समय देश में आतंकवाद सम्प्रदायवाद के जो उपद्रव हो रहे थे, उनके कारण वे प्रायः एक असह्य मानसिक पीड़ा का अनुभव किया करते थे और इसी मानसिक पीड़ा ने हमें दिल का रोगी बना डाला। उपचार के लिए वे इसी-लिए अस्पतालों में भी अपना प्रवेश देते रहे, किन्तु रोग निर्मूल नहीं हुआ। बीच-बीच में थोड़ा स्वस्थ हो जाने पर फिर वे राजनैतिक कार्यों में संलग्न हो जाते थे। डाक्टरों से पूर्ण विश्राम करने के परामर्श की भी उपेक्षा करके राष्ट्र-हित में विभिन्न आन्दोलनों और अभियोजनाओं का सूत्रपात करके उनमें अपनी पूरी शक्ति के साथ जुट जाते थे। मैं दिल का रोगी हूं, अधिक भाग-दौड़ मुझे नहीं करनी चाहिए, इसकी कोई चिन्ता वे नहीं करते थे। देश-व्यापी दौरे इनकी योजना के मुख्य अंग बन गये थे। इसी कारण वे पूर्ण स्वास्थ्य लाभ करने का कभी अवसर ही नहीं पा सके।

सन् १९८६ नवम्बर के महीने की बात है। मैं अपने आर० के० पुरम् सैक्टर-४ दिल्ली स्थित आश्रम में जब पहुंचा, तो मुझे पता चला कि राजनारायण राममनोहर लोहिया अस्पताल में इलाज के लिए दाखिल हैं। मैं तुरन्त ही उन्हें देखने के लिए अस्पताल गया, वहाँ पहुंचने पर मैंने देखा कि उनका स्वास्थ्य प्रायः ठीक है। उनके मुख्य चिकित्सक डा० ने भी मुझसे कहा कि नेताजी अब बिल्कुल स्वस्थ हैं, किन्तु अभी हम इन्हें अस्पताल से छुट्टी नहीं देना चाहते। इन्हें इसलिए यहाँ रखना आवश्यक प्रतीत होता है कि अस्पताल से छुट्टी देते ही ये अपने राजनैतिक और देश-सेवा सम्बन्धी कार्यों में संलग्न होकर

भाग-दौड़ करने लगेंगे, जिसके कारण रोग का दुबारा आक्रमण हो सकता है। यदि दुबारा रोग का हमला हुआ तो हमारे लिए सम्हालना मुश्किल पड़ जायेगा। इसी कारण से हम चाहते हैं कि ये अस्पताल में ही बने रहकर पूर्ण विश्राम का लाभ उठायें, यही इनके हित में ठीक रहेगा।

राजनारायण, मुख्य चिकित्सा अधिकारी और मेरे बीच में जो बातें हो रही थीं उन्हें चुपचाप पड़े-पड़े सुन रहे थे। मुझे डाक्टर से अलग बुलाकर चुपके से कहा—गुरुजी! यह जो कुछ कह रहे हैं वह सब ठीक है। लेकिन मुझे ऐसा प्रतीत हो रहा है कि मेरा जीवन अब अधिक शेष नहीं है। ये लोग भले ही मुझे ठीक हो जाने का दम भरते रहें, किन्तु मैं ऐसा अनुभव कर रहा हूं कि अब इस जर्जरित शरीर को बदलना ही होगा। राजनारायण के ये विचार सुनकर मैंने उन्हें सान्त्वना दी। साथ ही योग, ध्यानादि की विशेष आज्ञा देकर मैं वहां से चला आया। मेरे आ जाने पर मुझे मालूम हुआ कि राजनारायण को डाक्टरों ने छुट्टी देदी है और वे अपने निवास-स्थान पर वापस आ गये हैं। आश्रम लौटकर मैं एक अन्य काम से बाहर चला गया था। जब वहां से लौटकर मैं दूसरे दिन शाम को पहुँचा तो मुझे बताया गया कि राजनारायण इसी बीच में मेरे दर्शनार्थ कई बार आर० के० पुरम् स्थित आश्रम में आये और अपनी दक्षिणायें समर्पित करके लौट गये। मैं उन्हें नहीं मिल सका, क्योंकि मैं अपने सत्संगी बच्चोंके आग्रह से कहीं अन्यत्र गया हुआ था। शामको जब मैं आश्रम पहुंचा तो लगभग आठ बजे रात में राजनारायण आये और श्रद्धा तथा प्रेम से मुझे उन्होंने उस दिन चौथी बार दक्षिणा भेंट की। मैंने उनसे कहा—"राजनारायण! यह क्या कर रहे हो? आज प्रातःकाल से सांय तक चार या पाँच बार तुम दक्षिणा देने आये हो। क्या कई वर्षों की दक्षिणा दे रहे हो? आह्लाद-स्वरूप ही मैंने यह बात कही थी।" उत्तर में वे बोले—"गुरुजी! वर्षों की नहीं, अपितु पूरे जीवन की ही दक्षिणा अर्पित कर रहा हूँ।" मैंने उन्हें सान्त्वना देने के लिए कुछ योगोपदेश दिया और कुछ ध्यानयोग की कुछ क्रियाएँ समझाकर प्रसाद दिया, जिसे ग्रहण करके भक्ति-भाव से राजनारायण अपने निवास पर जाने के लिए उठकर चल पड़े। कुछ दूर चलकर वे पुनः लौटे और कहा—गुरुजी! आप २८ दिसम्बर को दिल्ली अवश्य आयेंगे। मैंने उत्तर दिया कि भाई आने का विचार तो अवश्य है, क्योंकि २८-२९ दिसम्बर को यहां एक योग-सम्मेलन है। यदि सम्मेलन की तारीखें यही निश्चित रहीं तो मैं उस सम्मेलनमें भाग लेने अवश्य आऊँगा अन्यथा नहीं। मेरा अन्यथा का यह वाक्य सुनकर राजनारायण एकदम बोल उठे और मुझसे कहने लगे कि गुरुजी! सम्मेलन हो या न हो, आप २८ दिसम्बर को मेरी प्रार्थना मानकर दिल्ली अवश्य ही आने की कृपा करें। मैंने पूछा, अच्छा बताओ तुम्हारा

आग्रह २८ दिसम्बर को बुलाने का क्यों है ? ऐसा आग्रह तो आज तक तुमने कभी नहीं किया। इस बार इतना आग्रह क्यों कर रहे हो?

वे मेरे प्रश्न का कोई उत्तर न देकर प्रणाम करके चले आये। अन्ततः २८ दिसम्बर को मैं दिल्ली पहुँचा आश्रम पहुंचते ही संदेश मिला कि राजनारायण बहुत बीमार हैं और पुनः अस्पताल में दाखिल हो गये हैं। सुनते ही मैं तत्काल अस्पताल पहुंचा, पहुंचते ही प्रिय राजनारायण की सेवा में उपस्थित सेवकों ने कहा कि—"गुरुजी ! आप आ गये ? यह आपने बहुत ही अच्छा किया। नेताजी बार-बार आपको याद कर रहे थे और हम लोगों से कह रहे थे कि जाओ गाड़ी ले जाओ, गुरुजी आश्रम आ गये होंगे, उन्हें ले आओ ताकि मैं उनके दर्शन प्राप्त कर सकूँ।" उन लोगों की ये बातें सुनकर मैं उस कमरे के अन्दर गया जहाँ ख्याति प्राप्त डाक्टरों की भीड़ उनकी देखभाल में लगी थी। वे सभी अपनी-अपनी मति के अनुसार चिकित्सा में लगे हुए थे। मेरे साथ आश्रम की योग्यतम प्रचारिका उमा शर्मा भी थी। उमा ने आगे बढ़कर प्रिय राजनारायण के कान में कहा कि—"नेताजी ! गुरुजी आये हुए हैं और आपके सामने खड़े हैं, आँखें खोलकर देखो। चि० उमा की आवाज को सुन करके प्रिय राजनारायण मुस्कराये और आँखें खोलकर मेरी ओर देखने लगे। मन से प्रणाम किया, हाथ उठाने की चेष्टा की, किन्तु यह सम्भव नहीं हो सका। लेटे-लेटे ही उन्होंने थोड़ा मस्तक झुका दिया। अपने आत्मिक तेजांश बच्चे के सिर पर हाथ रखकर हृदयसे प्यार करते हुए मैंने उन्हें आशीर्वाद दिया। घंटे डेढ़ घंटे में वहाँ रहकर आश्रम लौट आया। दिन में कुछ हालत सुधरी, शाम के समय पुनः बेहोशी आ गई, उन्हें २९ दिसम्बर को प्रातः फिर चेतना आई, बाद दोपहर को फिर बेहोशी बढ़ गई। उनके देह-त्याग के दो घंटे पूर्व मैं वहीं था। अन्ततः डाक्टरों का प्रयास विफल हुआ और रात के बारह बजकर एक मिनट पर प्रिय राजनारायण ने अपने नश्वर शरीर को त्याग दिया। किन्तु यह एक विशेषता की बात रही कि वह अपने अन्तिम समय में गुरु स्मरण एवं चिन्तन में ही लगे रहे। उनके मस्तिष्क पर तेज की आभा बराबर बनी रही, यह उनके योग-ध्यान की विशेषता थी। उनको अपना मृत्यु ज्ञान कई महीने पूर्व ही हो गया था। उन्होंने मुझसे स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि गुरुजी ! डाक्टर लोग कुछ भी प्रयत्न करते रहें, किन्तु मेरा शरीर अब रहेगा नहीं। इसीलिए २८ दिसम्बर को दिल्ली आनेके लिए बार-बार आग्रह किया था। प्रातःकाल मैं उनके घर पर पहुंचा तब उनके प्रिय बच्चे इस विचार-विमर्श में थे कि अन्तिम संस्कार कहाँ किया जाय। तो मैंने उनके प्रिय बच्चों को परामर्श दिया कि बनारस ही उचित स्थान है। क्योंकि काशी न सिर्फ पुण्य क्षेत्र है, बल्कि भगवान् शिव का दिव्य-धाम भी है। बच्चों

ने यह परामर्श सहर्ष स्वीकार कर लिया। अतः प्रिय राजनारायण के पञ्च-भौतिक शरीर को विशेष वायुयान द्वारा बनारस ले जाया गया। एक रात्रि के लिए उनके शरीर को सभी लोगों के दर्शनार्थ खुले में रखा गया। दूसरे दिन बड़ी धूमधाम के साथ राजकीय व्यवस्था में शव-यात्रा निकाली गई। मैं स्वयं अन्य सत्सङ्गी बालकों के साथ अगले दिन प्रातःकाल ही बनारस पहुंच गया था तथा उनकी शव-यात्रा के दृश्य मैंने अपनी आँखों देखा। यद्यपि मेरे प्रिय बच्चे राजनारायण दिवंगत तो दिल्ली में ही हो चुके थे, किन्तु बनारस में उनका अन्तिम संस्कार राजकीय सम्मान के साथ हुआ। शव-यात्रा का अनुपम दृश्य था। बनारस की गली-गली, कूँचे-कूँचे, मकानों की छतें, छज्जे व मुंडेरियाँ दर्शकों से ठसाठस भरी हुई थीं। हरिश्चन्द्र घाट तक पहुंचने में लगभग चार-छः घण्टे का समय लग गया। शाम को चार बजे के करीब उनके पञ्च-भौतिक शरीर का उनके बच्चों ने अन्तिम संस्कार कर दिया। हरिश्चन्द्र घाट पर जो भीड़ थी, वह वर्णनातीत तो थी ही, किन्तु जो लोग उनके अन्तिम संस्कार के समय भीड़ की अधिकता के कारण घाट पर प्रवेश नहीं कर सके थे, वे सभी नावों में बैठकर गङ्गा-माता की धार में उनकी जय-ध्वनि से आकाश को निनादित कर एक दूसरे से परस्पर चर्चा करते हुए कह रहे थे कि देश की गम्भीरता व दृढ़ता के साथ ऊँची और निर्भीक वाणी में चेतावनी देने वाला नेता आज भारत से चला गया है। मैंने अपने प्रिय बच्चे राजनारायण के अन्दर स्वयं अनुभव से पाया कि वे दृढ़ सङ्कल्प सत्यव्रती एवं अपनी नियमानुवर्तिता के बिल्कुल पक्के; एवं आदर्श सन्त थे। इस प्रकार की नियमानुवर्तिता अच्छे-अच्छे साधुओं के भीतर भी देखने में नहीं आई।

राजनारायण के चरित्र में समाई हुई साधुता, निर्भयता, सत्यवादिता और देश एवं देशकी जनता के प्रति अटूट सेवा-भावना राजनैतिक और सामाजिक जीवन में प्रवेश पाने वाली नई पीढ़ी को एक आदर्श दीप-स्तम्भ के समान सदा मार्ग-दर्शन देती रहेगी ऐसा मेरा अपना मत है।

—❀—

❀ जिन परिवर्तनों को हम आज संसार में देख रहे हैं वे अपने आदर्श और अभिप्राय में बौद्धिक, नैतिक, और भौतिक हैं। आध्यात्मिक क्रान्ति अपने समय की प्रतीक्षा कर रही है और इस बीच अपनी लहरें जहां-तहां उछाल रही है। जब तक वह आ नहीं जाती तब तक अन्य सबका मर्म भी समझ में नहीं आ सकता, तब तक वर्तमान स्थिति की सभी व्याख्याएँ तथा मनुष्य की भवितव्यता विषयक भविष्य वाणियाँ निरर्थक हैं, क्योंकि इस क्रान्ति की प्रकृति, शक्ति और क्रिया ही हमारी मानवता का आगामी युग चक्र निर्धारित करेगी।

—योगीराज अरविन्द

मानव से-

मानव होकर मानवता से, तुमने कितना प्यार किया है ?
इस जीवन में तुमने कितना औरों का उपकार किया है ?
सुन पाये हो इन कानों से, जग की कितनी करुण कहानी ?
डाल सके पर-दुख-दावा में तुम कितना आँखों का पानी ?
कितनों के अवलम्ब बने हो, कितनों को भर अङ्क मिलाया ?
स्वयं गरल पी-पीकर कितना औरों को पीयूष पिलाया ?
बनकर निर्देशक कितनों को तुमने भूली राह बताई,
कितनों के तमसावृत मन में तुमने जीवन-ज्योति जगाई ?
लोभ, मोह, मद कितना छोड़ा, नाता काम-क्रोध से तोड़ा,
विषय-वासनाओं से हटकर कितना प्रेम प्रभू से जोड़ा !
जीवन का क्या अर्थ यहाँ है, क्यों कञ्चन-सा तन पाया है,
क्या इसको कुछ समझ सके हो, क्यों नर भूतल पर आया है !
क्या अपने की परिभाषा में—सीमित है परिवार तुम्हारा,
क्या न सुनी यह अमृतवाणी—है कुटुम्ब संसार तुम्हारा ?
कितनी त्याग सके पर-निन्दा, कितना अपना अन्तर देखा,
कितना रख पाये हो अब तक, अपने पाप-पुण्य का लेखा ?

—श्री देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य'

SIDDHAYOGA—Regd. No. L. AG. 008 Oct. 1987

प्रेषक कार्यालय :—

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धमुक्त योग प्रशिक्षण केन्द्र, खवाई (एत्मादपुर) आगरा।

PRINTED MATTER
Book-Post

—❀❀❀—

श्री .....

.....

.....

.....

❀ मृत्युदेव ❀

मृत्युदेव को भला कौन अपने पास में ठहराना चाहेगा ? इसीलिए उसने अपना घर श्मशान भूमि में बनाया है। उसके राज में भेद-भाव नहीं है। वह राजा को जितनी जमीन देता है उतनी ही भिखारी को। उसकी निगाह में बड़ी समानता है। उसके आगे सब बराबर हैं। समदर्शी मृत्यु की गोद में आजन्म बैरी एक साथ सोते हैं। उसके राज्य में हिन्दू, मुसलमान और ब्राह्मण, शूद्र का भेद-भाव नहीं है। ऊँच-नीच, छोटे-बड़े सबके लिए एक महान् है। ऐसे समदर्शी मृत्युदेव से डरना क्या ?

—श्री भगवतीप्रसाद श्रीवास्तव

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कमलेश प्रिंटिंग प्रेस, बर्फ वाली तालाब, आगरा-2 फोन 63165